श्रीः ।

निगमागमचन्द्रिका ।

दूसरा भाग २.

एक सनातनधर्मसम्बन्धी ऋतुपत्रिका ।

कल्यब्दाः ४९९८.

जिसमें

इस वर्षके वसन्तआदि छहों ऋतुओंके ६ अंक सम्मिलितहैं.

"निगमागममण्डली" के आचार्यद्वारासंपादित.

एवम्

उक्त साधुमण्डली द्वारा

बम्बई के

"श्रीवेङ्कटेश्वर" यन्त्रालयसे मुद्रित

और प्रकाशित ।

शकाब्दाः १८२०, संवत् १९५५ वै०

{ मूल्य-साजिल्द..............१॥) }
{ ,, जिल्दरहित ....१) }

डाकमहसूल इस मूल्यसे अतिरिक्त देना होगा.

ॐ श्रीहरिः।

निगमागमचन्द्रिका।

दूसरा भाग २.

एकसनातनधर्म्मसम्बन्धी ऋतुपत्रिका।

कलाब्दाः ४९९८.

जिसमें

इस वर्षके वसन्तआदि छहों ऋतुओंके ६ अंक सम्मिलितहैं.

"निगमागममण्डली" के आचार्यद्वारासंपादित.

एवम्

उक्त साधुमण्डली द्वारा

बम्बई के

"श्रीवेङ्कटेश्वर" यन्त्रालयसे मुद्रित

और प्रकाशित।

शकाब्दाः १८२०, संवत् १९५५ वै०

{ मूल्य-सजिल्द..............१॥) }
{ ,, जिल्दरहित ....१) }

डाकमहसूल इस मूल्यसे अतिरिक्त देना होगा.

विज्ञापन।

"निगमागम-मण्डली" के लक्ष्य के साधनार्थ यह "निगमागम-चन्द्रिका" नामक ऋतु-पत्रिका नियमित रूपेण प्रकाशित होती है। यह "चन्द्रिका" प्रत्येक ऋतु में प्रकाशित होती है, अर्थात् वर्षभर में छहों ऋतु के ६ अंक प्रकाशित होकर धर्म्महितैषी कुमुदगणों को प्रस्फुटित एवं आह्लादित करते रहेंगे; और प्रत्येक वर्ष के छहों अंक मिलकर पृथक् पृथक् भाग रूपेण एक स्वतंत्र पुस्तक के कलेवर में परिणत होकर प्रकाशित होते रहेंगे और इसी नियमानुसार क्रमशः प्रकाशित होकर अपनी सार्वभौम-ज्ञान-रश्मि द्वारा धर्म्म-जिज्ञासु गणों के हृदय को (चन्द्रिका) शान्ति प्रदान करेगी॥

इस "चन्द्रिका" में धर्म-मीमांसा सम्बन्धीय प्रबन्ध मात्र प्रकाशित होंगे परन्तु "राजनैतिक" विषयों से चन्द्रिका का किञ्चित् सम्पर्क न होगा। इसी भाँति किसी प्रकार के साम्प्रदायी खंडन मंडन तथा अन्यान्य व्यर्थ वाद प्रतिवाद से भी चान्द्रिका सर्वदा निर्मल रहेगी। और सार्वभौममतयुक्त निरक्षेप एवं सर्वजीवहितकारी धर्म्म-प्रतिपादक प्रबन्ध-समूह श्रीमत्सम्पादक तथा अन्यान्य मण्डली के सभ्यगण द्वारा रचित होकर रश्मिरूपेण चान्द्रिका को सुभूषित करेंगे॥

इस चान्द्रिका के प्रकाश करने का मुख्य उद्देश्य "सनातन वैदिक-धर्म्म" का यथावत् सार्वभौम रूप संसार में प्रचारित करना; पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगणों के महिमासंकीर्तन द्वारा आर्य्य-सन्तान गणों को अपना पूर्व गौरव स्मरण कराना; सनातनधर्म के सदाचार-समूह जिस गभीर और निगूढ़ वैज्ञानिक दृढ़ एवं अभ्रांत भित्ति पर स्थित हैं उस का विस्तारित विवरण दार्शनिक-युक्ति द्वारा प्रदर्शित करना; सनातनधर्म्म का यथार्थ लक्षण, आर्य्यगणों का

नित्य नैमित्तिक काम-कर्म-समूह, वर्ण एवं आश्रम-मर्य्यादा, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्ग, बन्ध एवं मुक्तभाव का विवरण, मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग आदि साधन द्वारा मुक्तिपद की प्राप्ति, एवं भगवद्-महिमा-प्रचार आदि यावत् धर्म-तत्त्वों का विस्तारित वर्णन सरल हिन्दी-भाषा द्वारा प्रकाशित करना निश्चय किया गया है ॥

"निगमागम-मंडली" के श्रीमद्आचार्य तथा इस के सभ्यगणों के रचित सर्व खंड-प्रबन्ध इस चन्द्रिका में ही मुद्रित हुआ करेंगे। एवं उनके रचित बृहत् पुस्तक-समूह "निगमागमप्रकाश-क्रम" (Nigamagam Series) के नाम से पृथक् पृथक् स्वतंत्र रूपेण प्रकाशित हुआ करेंगे। "निगमागम चन्द्रिका" एवं "निगमागम सीरीज़" के सकल ग्रन्थ-समूह की स्वत्वाधिकारिणी यह "निगमागम-मण्डली" रहेगी; और इस पुस्तक-प्रसार से जो धनसंग्रह होगा वह धन धर्म—पुस्तक—प्रकाश के अर्थ ही व्यय होता रहेगा। साधु-मंडली की ऐसी इच्छा है कि जितना धन अधिक संग्रह होगा उतना ही उपयुक्त पात्रों में मंडली के प्रकाशित ग्रन्थ विना मूल्य ही वितरण करने का प्रबन्ध किया जायगा ॥

प्रत्येक भाग अर्थात् प्रत्येक वर्ष की "निगमागम-चन्द्रिका" (६ अंक) का मूल्य केवल १) मुद्रा नियत किया गया है। इस के अतिरिक्त डाक-व्यय भी ग्राहकों को देना होगा। मूल्य अग्रिम लिया जायगा ॥

"चन्द्रिका" सम्बन्धी समस्त पत्रादि निम्न लिखे पतेपर भेजना चाहिये ॥ विज्ञापनमिति ॥

चैत्र संवत्सरारंभः
कलाब्दाः ४९९८.

ठाकुरप्रसाद शर्म्मा,
"निगमागममण्डली-बुकडिपो"
स्वामीघाट—मथुरा.

ॐ श्रीहरिः ।

निगमागम चन्द्रिका छहों अङ्कों की अनुक्रमणिका ।

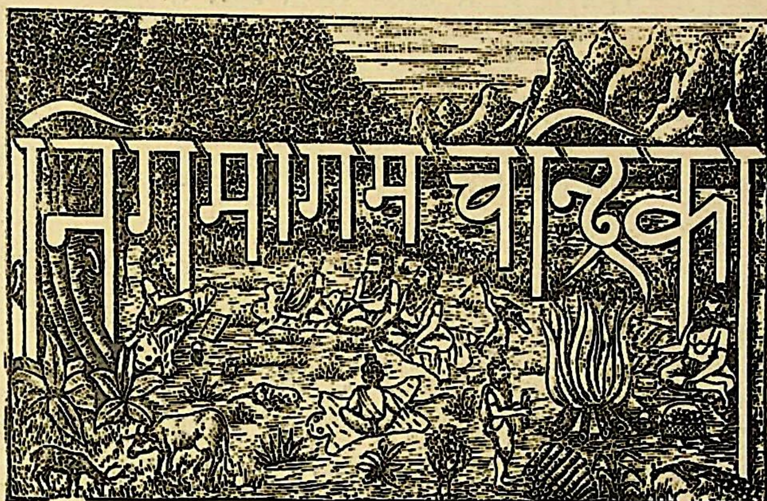
आशय.	पृष्ठसंख्या	अंकसंख्या.
१ मंगलाचरण	१	१
२ धर्म्मप्रचार	२	,,
३ हिन्दीभाषा	२२	,,
४ देवीचित्र एवं स्तुतिगीत	३०	,,
५ राजकथा	३१	२
६ शेषशायी भगवान विष्णुका चित्र एवं गीत	४३	,,
७ निगमागम मंडली	४४	,,
८ संस्कृत का प्रचार	५७	,,
९ श्राद्धतत्त्व	६५	३
१० सृष्टिप्रकरण और योगतत्त्व	७८	,,
११ मुक्तितत्त्व	९१	,,
१२ संगीत शास्त्र	१०२	,,
१३ पुरुष प्रकृत्यात्मक महादेवी चित्र एवं स्तुति गीत	११६	,,
१४ पुस्तकोद्धार	११७	४
१५ वर्णतत्त्व	१२९	,,
१६ भगवान् विश्वनाथ चित्र एवं स्तुति गीत	१३७	,,
१७ तंत्रशास्त्र	१३८	,,
१८ ब्रह्मचर्य्याश्रम	१६१	५
१९ सृष्टिके प्राचीनत्व पर भारत का मत	१७३	,,
२० शिवशव शायिनी भगवती चित्र व विनयगीत	१७८	,,
२१ वैदिक दर्शनशास्त्र	१७९	,,
२२ ज्योतिषशास्त्र उन्नति	१८९	६
२३ श्रीभुवनेश्वरी चित्र व गीत	१९७	,,

श्रीः ।

शुद्धिपत्र ।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति.
कह्यो	कह्यो	६८	१५
जे	जो	६८	१७
समझा जाया करता है	समझी जाती है	११३	२७
करते ह	करते हैं	१२०	२३
परन्तु न	परन्तु जो	१२०	२७
विष्णुर्वरिष्ठो	विष्णुर्वरिष्ठो	१३८	१
पर्वतानां	पर्वतानां	१३८	२
सप्तश्लोणा	सप्तश्लोका	१४१	१९
श्रुको	शुको	१४२	२७
असक्त	अशक्त	१४९	१३
कृतनिश्चय है	कृतनिश्चय हैं	१८०	१४
गणों का	गणों की	१८०	२७
नाइ	नाई	१८०	२७
सपक्षपर	अकाल पक्षकी	१८३	५
मेलनटाइन	भेलनटाइन	१८३	१६
ज्योतिषशास्त्र उद्ध	ज्योतिषशास्त्र उद्धार	१९५	१२

ॐ नमोभगवतेवासुदेवाय ।



वसंतऋतुः—कलाब्दाः ४९९८.

भाग २	चैत्र एवं वैशाखमास.	संख्या १

मंगलाचरण ।

नमस्तेदेवदेवेशसदाशिवजगद्गुरो ।
आशुतोषंज्ञानमयंकैवल्यफलदायकम् ॥

गीत ।

रागिनी जोगिया, ताल झाँपताल ।

और कितने दिन, होज्ञानहीन,
रहोगे ? भारतवासी ॥ १ ॥
क्या तुमथे, अब क्या हो रहे,
भाई नेत्रखोलि देखो मेटो तमरासी ॥ २ ॥

नीचन में नीच, हो रहे जग बीच,
सब उँगरी उठावत हैं (करके) उपहासी ॥ ३ ॥
धिक् है वह जीवन, जु करे नहिं मोचन,
अपनी (भारत) माता के दुःखरासी ॥ ४ ॥

धर्म्मप्रचार ।

भारतवर्ष में आजदिन चारों ओर "धर्म्मप्रचार" शब्द सुनने में आता है । नये युग के नये उत्साह के श्रोतमें पड़कर, पश्चात् शिक्षा के प्रभाव से देखादेखी रजोगुणान्वित होते हुए सब सम्प्रदाय के भारतवासी ही "धर्म्मप्रचार" "धर्म्मप्रचार" ध्वनिसे भारत के सब प्रदेशों को प्रतिध्वनित कर रहे हैं । आर्य्य-सनातनधर्म्म के सब सम्प्रदाय के मुखिया गणही आजदिन धर्म्म-प्रचार के पक्षपाती देख पड़ते हैं; इस कारण "धर्म्म" और "प्रचार" इन दोनों शब्दों का यथार्थ में तात्पर्य्य क्या है ! सो इस समय में विचार करना अवश्य कर्त्तव्य है ॥

आजादिन इस विस्तृत पृथिवी पर बौद्धधर्म्म, जैनधर्म्म, ईसाईधर्म्म, मुसलमानधर्म्म, यहूदीधर्म्म, पारसी धर्म्म, आदि नाना धर्म्मों के प्रचार के साथ नाना धर्म्म-नाम सुनाई देते हैं; परन्तु अपने वैदिक सनातनधर्म्म का केवल "धर्म्म" नाम से और अधिक कोई नाम नहीं है । यदिच अब वर्त्तमान-काल-प्रभावसे इसके अनेक नूतन नाम यथा हिन्दू-धर्म्म, सनातन-धर्म्म, आर्य्य-धर्म्म और वैदिक-धर्म्म, आदि नाना कल्पित नाम सुनाई देते हैं, परन्तु अपने धर्म्म के प्रधान

आश्रय वेद और वेदसम्मत उपवेद, दर्शन, स्मृति, पुराण, इतिहास और तंत्र आदि किसी में कहीं भी "धर्म्म" के सिवाय और कोई स्वतंत्र नाम नहीं दिखाई देता है। सर्वव्यापक ईश्वर की नाईं सार्व्वभौम-दृष्टि, उदारता और शान्तिगुणयुक्त इस धर्म्म के लिये केवल "धर्म्म" शब्दही उपयोगी है। पृथिवी पर और जितने धर्म्म प्रचलित हैं, उन धर्म्मों के प्रवर्त्तक महाशयगणोंने अपने अपने धर्म्म-मार्ग को थोड़े से नियमों के आधीन कर दिया है, और यह भी स्थिर कर गये हैं कि उन के उन उन धर्म्म-मार्गों के सिवाय पृथिवी पर जीवगणोंके उद्धारार्थ और कोई पथ ही नहींहै; यदि जीवों की मुक्ति होगी तो उन्हींके नियमित धर्म्म-मार्ग द्वारा ही होगी !! जब इन नवीन धर्म्म-आचार्य्यों ने अपने२ धर्म्म-मार्ग को विशेष विशेष नियमों के आधीन कर दिया है तो उस विशेषता के प्रतिपादनार्थ विशेष २ नामकरण भी अवश्य होना उचित है। परन्तु अपने सनातन-धर्म्म का रूप इस भांति संकोचित, अथवा दृष्टि इस भांति एकदेशदर्शिनी नहीं है। पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगणोंने जब धर्म-निर्णय किया है,तो "धर्म्म" शब्द का यही अर्थ किया है कि, 'इस सृष्टि-क्रियाको जिस ऐश्वरिक नियम ने धारण कर रक्खा है उसीको "धर्म्म" कहते हैं, अर्थात सृष्टि,स्थिति और लय रूप इस संसार का जो सर्वव्यापक नियम है, कि तृणसे लेकर ब्रह्मा पर्य्यन्त जो कुछ पदार्थ इस ब्रह्माण्ड में हैं वे सबही प्रथममें उत्पत्ति, मध्य में स्थिति और अन्तमें लय के आधीन हैं; और इसी सृष्टि, स्थिति और लयके क्रमको जिस नियमने धारण कर रक्खा है उसीको धर्म्म कहते हैं। विचारनेसे यही सिद्ध होगा कि जीवभी इस नियमसे बाहिर नहीं है; अर्थात जीवकी

उत्पत्ति, स्थिति और लय वा मोक्ष भी त्रिगुणभेद से समझी जासकृती है । "धर्म्म", का धातुगत अर्थ "धारण करना" और निरुक्तगत अर्थ "नियम" होनेके कारण "धर्म्म" शब्दसे "धारण करने योग्य नियम" यही भावार्थ निकलता है; और वही धर्म्म शब्द का भावार्थ जीव-क्रमोन्नतिके सिद्धान्त पर लगाने से जीवश्रेष्ठ मनुष्य के यावन्मात्र कर्म्म उस धर्म्मशब्दवाच्य अधिकार के आधीन समझेजासकते हैं। जिस प्रकार सृष्टि के यावन्मात्र पदार्थ धर्म्मके आधीन हैं, उसी प्रकार जीवश्रेष्ठ मनुष्यभी धर्म्माधीन है इसमें सन्देह नहीं । इस ब्रह्माण्डमें दो प्रकारकी क्रिया देखनेमें आती है, यथा एक जड़-क्रिया और दूसरी चेतन-क्रिया, अर्थात् इन दोनों क्रियाओं से अतीत और कोई तीसरी क्रिया इस संसार में दृष्टिगोचर नहीं होती। चेतन-क्रिया विद्या अर्थात् ईश्वरका राज्य,और जड़-क्रिया अविद्या अर्थात् ईश्वर-विमुख अधिकार है। जड़-राज्य का सम्पूर्ण अधिकार प्रस्तर आदि स्थावर पदार्थों से लेकर मनुष्य के अतिरिक्त सब जीवोंतक में है; क्योंकि मनुष्य के सिवाय और सब जीव प्रकृति के आधीन होकर चलते हैं, यहांतक कि उन सब के अन्तःकरणपर जड़भावरूपी उन की प्रकृति का पूर्ण रूपेण आधिपत्य रहा करता है; इसी कारण अन्य निकृष्ट जीवगण अपनी प्रकृति के अतिरिक्त बुद्धिद्वारा कोई नूतन कार्य्य नहीं कर सकते। परन्तु मनुष्य-योनि का अधिकार चेतन-राज्य में पहुंच जाता है; उन्नत मनुष्यजीवही केवल चेतन-राज्य में भ्रमण करनेके योग्य है। इसी कारण मनुष्य अपनी बुद्धिपर आधिपत्य स्थापन कर सकता है, और बुद्धि की सहायतासे यथाशक्ति नूतन सृष्टि करनेमें समर्थ होसक्ता है; परन्तु जिसप्रकार इस उन्नतअधिकार की

प्राप्ति से मनुष्य उन्नत अधिकारको प्राप्त करसक्ताहै उसी प्रकार अवनत भी होसकताहै। मनुष्यमें उन्नत-ज्ञान रहनेकाही कारण है कि वह चाहेतो अपने पुरुषार्थ द्वारा उन्नतिको प्राप्त करके ईश्वर-साक्षात्कार करके मुक्त होसक्ताहै, और चाहे तो अवनतिको प्राप्त करता हुआ पुनः जड़-राज्य में उतर जा सकताहै; मनुष्यको चेतन-राज्य का अधिकार दिया गयाहै; इसकारण उसके दायित्वभी इतने रक्खे गये हैं। चौरासी लक्ष योनियोंमें एकमात्र मनुष्यके सिवाय और सबजीवोंमें तम अंश अधिक होनेके कारण वे धर्म्म-विचारके अधिकारी नहीं हैं; उन सब योनियोंमें सृष्टिक्रिया केइस अविरोधी नियमके आधीन होकर जीवगण क्रमशः उन्नत-योनिको प्राप्त होते हुए अन्तमें इस मनुष्य-योनिमें आकर धर्म्म-विचार के अधिकारी होजाते हैं। और इसही योनिमें आकर जीव लय अर्थात् मुक्तिपदके निकट पहुँच जाता है; जैसे मनुष्य जब किसी प्रबल तरंगिणी नदीमें डूब जाता है, तब एक बारतो वह श्रोतवती सरिता उस मनुष्यको अपने जलके ऊपर कर ही देती है, उस समय यदि वह मनुष्य कुछ पुरुषार्थ कर तरंगोंको आधीनमें लाय नदी तटतक पहुंच जाता है तो तो इस विपत्ति-सागर से बचही जाता है, और यदि वह बुद्धिहीन हो घबड़ाय जाय तो पुनः डूबनेपर उसका बचना कठिन हो जाता है; तैसेही जीवों पर कृपावशहो प्रकृतिमाता जीवको धर्म्मका अधिकारी कर एक बारतो मनुष्य-योनि तक पहुंचाही देती है, अब पुरुषार्थ कर धर्म्मके आधीन हो मुक्त होना मनुष्यके हाथ है। इस विचारसे शास्त्रकर्त्ताओंने यही सिद्ध किया है कि, जिन कर्म्मोंके साधन द्वारा मनुष्यगण बेखटके उन्नत होतेहुए मुक्त हो जांयगे उन्हीं कर्म्मों का नाम धर्म्म; और जिन कर्म्मों

द्वारा मनुष्य बीच में अटक रहै अर्थात् बन्धन की आधिकता प्राप्त करके नीचे को उतर जाय उन्हीं कर्म्मों का नाम अधर्म्म है। सत्वगुण की वृद्धिद्वारा मनुष्य का मुक्ति-मार्ग क्रमशः सरल हो जाता है, इस कारण सत्वगुणवर्धक–कर्म्म ही धर्म्म; और तमोगुण द्वारा मनुष्य अधिक बन्धन–प्राप्त होता है और निम्न-भूमिमें उतर जाता है, इस कारण तमोगुण–वर्धक-कर्म्म ही अधर्म्म है। अपने शास्त्रोंके विचारसे मनुष्यगण जितने कर्म्म किया करते हैं वे सबही धर्म्म और अधर्म्मके अन्तर्गत हैं; इसी कारण आर्य्य–धर्म्म–शास्त्रों में मनुष्योंके खाने, पीने, सोने, जागने, चलने, फिरने, उठने, बैठने, देखने, सुनने, आदि सब कर्म्मोंके साथही धर्म्माऽधर्म्मका सम्बन्ध सिद्ध किया गया है। पृथ्वीके और सब धर्म्माऽवलम्बियोंने जैसे अपने अपने धर्म्मको थोड़ेसे नियमोंके आधीन कर रक्खा है, अर्थात उस धर्मकी स्थिर कीहुई नियमावली से ही उनका धर्म्म निर्णीत है, और उन नियमोंके अतिरिक्त और सब उत्तम बातोंसे उनके धर्म्मका कुछभी सम्बन्ध नहीं है; परन्तु अपने वैदिक–धर्म्म में वैसा नहीं है; क्योंकि अपने धर्म्म–विज्ञानके अनुसार पृथिवीके यावन्मात्र पदार्थ एवं जीवोंके यावन्मात्र कर्म्म कोईभी धर्म्माऽधर्म्म से अतीत नहीं होसक्ते। और इसीकारण अपने धर्म्मकी दृष्टि इतनी महान् और उदार है, कि वह और धर्म्मों की निन्दा करही नहीं जानता; चाहे क्षुद्र–बुद्धिसे अन्य कोई भी धर्म्मावलम्बी उसकी निन्दाकरे, परन्तु पिता जिसप्रकार बालक के मिथ्या खेलोंसे सन्तुष्ट ही होताहै उसीप्रकार वैदिक–सनातनधर्म्म अन्यान्य धर्म्मावलम्बियों की कटु उक्तियोंपर कुछभी ध्यान न देकर सबकी भलाई ही करता रहताहै। धर्म्म–निर्णय करते समय एवं "धर्म्म" शब्द का वैज्ञानिक-अर्थ विचारते

समय धार्म्मिक मात्र कोही धर्म्मकी इस मूल-भित्ती पर स्थिर रहनाही उचित है। सभी धर्म्मप्रचारकगण धर्म्मनिर्णय करते समय यदि इस वेदोक्त धर्म्म-सिद्धान्त को न भूलें तो वे कदापि विचलित, क्लेशित अथवा अवनत नहीं होंगे; किन्तु सदा उन्नतही होते हुए अपना और पृथिवीके सब धर्म्मावलम्बियोंका कल्याण साधन करसकेंगे। जहां नाम है वहीं अहंकार है; जहां विशेष संज्ञा रूप नाम है वहीं भाव विशेषताहै; जहां संज्ञा-भेद है वहीं छुटाई बड़ाई है; जहां नाम है वहीं सार्व्वभौमदृष्टि का अभाव है; इसकारण अपना आर्य्यसनातनधर्म्म केवल "धर्म्म" नाम से ही अविहित होने योग्य है। इस कारण चाहे संज्ञा रखने के अर्थ इस धर्म्ममार्ग का सनातनधर्म्म, आर्य्यधर्म्म, हिन्दूधर्म्म, वैदिकधर्म्म, आदि कुछही नाम रखदिया जाय; परन्तु सर्वव्यापक, समदर्शी, अनादि, अनन्त, महान्, और सर्वजीवहितकारी इस अपौरुषेय धर्म्ममार्ग का केवल "धर्म्म" नाम ही होसक्ताहै; इस विचारमें सन्देह मात्र नहीं है॥

शास्त्रों में लेख है कि सत्ययुगमें धर्म्म चतुष्पाद होगा, त्रेतायुगमें धर्म्म त्रिपादही रह जायगा, पुनः द्वापरयुग में धर्म्म की और न्यूनता होने के कारण धर्म्म दोपादही रहेगा और कलियुगमें काल-माहात्म्य के कारण धर्म्म इतना घटजायगा कि उसका केवल एकपादमात्र रहजायगा। महाभारत के घोर युद्धसे पीछे अर्थात् प्रायः पांच सहस्र वर्ष हुए तबसे कलियुग प्रगट हुआहै; यह धर्म्म के एकपाद रहने काही कारण है कि धर्म्मकी आदि-भूमि भारत-भूमिमें इस पांच सहस्र वर्ष के भीतर ही अनंत धर्म्म-विप्लव होगये, और हो रहे हैं; भारत-श्मशानकारी महाभारत का महायुद्ध, तदनन्तर नाना राजविप्लव, बौद्धविप्लव, यवनविप्लव

आदि नानासंकटों से मनुष्यों की बुद्धिमें फेर पड़गया; और उसही के कारण भारतवर्षमें नाना मतमतांतरोंका प्राकट्य हुआ, और उन मतमतान्तरों की सहायतासे समस्त पृथिवीमें और नये नये धर्म्म-संप्रदाय प्रकटित होगये। जब धर्म्म के चार पाद थे तबही मनुष्यगण धर्म्म के यथार्थ रूप मुक्तिपद को ही प्रधान लक्ष्य कर धर्म्म-साधन करते रहे; शनैः शनैः धर्म्म के पाद घटते घटते जब एक ही पाद रह गया, तब जीवगणों की बुद्धि की मलीनता के कारण उन्होंने धर्म्म के आध्यात्मिक अर्थात् अन्तर्लक्ष्य को छोड़ बहिर्लक्ष्य में फँस, अपनी अपनी संप्रदाय की वृद्धि करने के अर्थ ही नाना धर्म्म-मतों की सृष्टि की। यह धर्म्म के एक-पाद रहनेका ही कारण है कि, जैसे उन्मादरोगग्रस्त मनुष्य अपनी बुद्धिनाश के कारण और समस्त मनुष्यों को उन्मादरोगग्रस्त अर्थात् पागल समझ उन्हें देख देख हँसा करता है, तैसेही अपनी अपनी सम्प्रदाय के पक्षपाती गण अपनी २ सम्प्रदाय को ही धर्म्म रूप समझ औरों को अधर्म्म का लांछन लगाय उपेक्षा किया करते हैं। इस वर्त्तमान कलिकालमें धर्म्म की न्यूनता बहुत ही होगई है, और उस की भविष्य भविष्यद्वाणी भी अपने शास्त्रों में बहुत ही मिलती है, जिसको देख देख कोई कोई धार्म्मिकगण अति निराश हो ऐसा भी विचारने लगते हैं कि, जब काल-माहात्म्य से धर्म्म का एकपाद रहगया है तो इस युगमें धर्म्म की पूर्णता-प्राप्ति हो ही नहीं सकेगी। सत्ययुग में धर्म्म के चार पाद थे, और कलियुग में धर्म्म का एक पाद ही है; इससे यह तात्पर्य्य नहीं है कि पूर्ण-धर्म्म के अधिकारी सत्ययुग में ही होसकते थे परन्तु अब नहीं होसकते; किन्तु यह आशय है कि जो धर्म्म पूर्णरूप से सत्ययुग में

वर्त्तमान था वैसे ही पूर्णरूप से धर्म्म इस कलियुग में भी वर्त्तमान है; धर्म्म के स्वरूप में कुछ भेद नहीं पड़ा है, परन्तु सत्ययुग में धर्म्म की गम्भीरता थी, अब कलियुग में उसकी न्यूनता बहुत ही देखने में आती है। जैसे एक कूपमें यदि पांच सहस्र घट जल की गंभीरता हो तो उस में अनेक मनुष्य डूब सकते हैं, परन्तु वही पांच सहस्र घट जल यदि कूपसे निकाल कर एक बहुत विस्तृत स्थानमें सिञ्चन कर दिया जाय तो उसी पांच सहस्र घट जलमें एक पिपी-लिका भी डूब नहीं सकेगी; तैसेही सत्ययुग में धर्म जहां जहां था वहां २ अपनी गंभीरता के साथही था, परन्तु अब इस तमोपूर्ण कलियुगमें जहां तहां धर्म्म की गभीरता के नाश होने के कारण सकल जीवों का पूर्णरूप से कल्याण होना कठिन है। कूपके जलमें गभीरता थी परन्तु विस्तार नहीं था, और भूमि--सिञ्चित उसी जलमें विस्तार बढ़कर गभीरताका नाश होगया; किन्तु जल का प्रमाण जितना कूप में था उतनाही अब भी रहा, केवल गभीरताके नाश के कारण जलकी कार्य्य–शक्तिमें फेर पड़गया। जो धर्म्म की धर्म्मत्व-शक्ति का विकाश सत्ययुगके मनुष्यगणों में प्रायः ही हुआ करता था, वही धर्म्म की धर्म्मत्व–शक्ति अब भी है, परन्तु उसका पूर्ण विकाश कहीं कहीं विरल ही देखने में आता है; किन्तु उसका बहुतही विस्तृत रूप जहां तहां प्रगट होरहा है॥

जगत् का इतिहास पाठ करने से यही सिद्ध होताहै कि जितने प्रकार के धर्म्मप्रचारकगणोंने धर्म्म का स्थापन, धर्म्म का संस्कार, और धर्म्म का प्रचार कियाहै, उन सबोंको तीन भागमें विभक्त कर सकते हैं; यथा ज्ञानी, साधक और पंडित। "ज्ञानी" धर्म्मप्रचारक वह कहासकते हैं कि

जिन्होंने अपनी ज्ञानदृष्टि द्वारा धर्म्म के बहिःसाधन से लेकर अन्तर्लक्ष्य तक को देख लिया हो,और जिन्होंने सकल समय में धर्म्म के सार्वभौमभाव कोही प्रचार किया हो; श्रीभगवान् कृष्णचंद्र, भगवान् वेदव्यास, और पूज्यपाद आर्य्य-ऋषिगणों को इस प्रकारके सर्वदर्शी, ज्ञानी-धर्म्म-प्रचारक-श्रेणी-भुक्त कर सकते हैं । ज्ञानी-धर्म्मप्रचारकोंमें इतनी विशेषता है कि उनमें ज्ञानका पूर्ण विकाश होनेके कारण उनके उपदेश सब सम्प्रदाय और सब धर्म्म-मार्गोंके हितकारी हैं; और उनके पालन करनेसे सकल प्रकार के अधिकारीगणही अपने अपने अधिकारके अनुसार कल्याण को प्राप्त कर सकते हैं । दूसरे प्रकार के "साधक"-धर्म्म-प्रचारक वे कहाते हैं कि जो साधनद्वारा भगवत्के अनन्त भाव-राज्यों में से किसी किसी भावराज्य में विचरण करते हुए अपने अपने अनुभव किये हुए भावों के उपदेश द्वारा धर्म्म-राज्य के एक एक अंशको उद्धार करगये हों; वैष्णव, शैव और शाक्त आदि सम्प्रदायों के आधुनिक आचार्य्य-गण इस साधकश्रेणी भुक्त हैं।इन महापुरुषगणों द्वारा समय समय पर धर्म्म के विशेष विशेष अंशोंका भली भांति उद्धार हुआ है और उसके साथही बहुत जीवोंका कल्याण भी हुआ है; परन्तु इस प्रकारके धर्म्मप्रचारक गणों के उपदेशमें इतनी ही न्यूनता दिखाई पड़ती है कि जिससे धर्म्म के सार्वभौम भावका संकोच होगया है, और वह उपदेश केवल एकदेशवादी होरहाहै । तीसरे प्रकारके "पंडित" धर्म्मप्रचारक वे हैं कि जो न तो त्रिकालदर्शी ज्ञानी हैं और न भगवद्भावग्राही साधक हैं, परन्तु केवल विद्याके बल से शास्त्रकथित धर्म्म का प्रचार किया करते हैं । इस प्रकारके पंडित-धर्म्मप्रचारकों को तीन भागमें विभक्त कर

सकते हैं, यथा उत्तम, मध्यम और अधम । जो पंडितगण केवल तीक्ष्णधारयुक्त कृपाण की नाईं अपनी प्रबल तर्क-युक्तिद्वारा औरों के धर्म्म-मत खंडन कर डालते हों, परन्तु जीवों के उपकारार्थ कोई श्रेष्ट पथ न बता सकते हों वेही "अधम "-पंडित-धर्म्मप्रचारक कहा सकते हैं। जो विद्वान् गण अपनी न्यायपूर्णयुक्ति द्वारा दूसरे के मतको अपने मतमें मिलाय उनको अपने आधीन-मतावलम्बी कर सकते हों, वे "मध्यम"-पंडित-धर्म्मप्रचारक हैं । और जिन महानुभाव शास्त्रज्ञाताओंकी प्रवृत्ति दूसरे के मतखंडन करनेपर न हो,और सदा उनकी प्रवृत्ति यही बनी रहै कि सब सम्प्रदायगणही शास्त्र के यथार्थ तात्पर्य्य को समझें क्योंकि शास्त्र सबके ही हितकारी हैं, ऐसे विज्ञगण ही "उत्तम"-पंडित-धर्मप्रचारक हैं । इन तीनोंमें से अधम-पंडित-धर्म-प्रचारक-गण धर्म्म-राज्यमें से दुष्ट प्रजागणों को दिन दिन निर्वासित करके धर्म्मराज्यको मनुष्य-शून्य अर्थात् कुछ दिनमें नगरोंको बन करडालते हैं; मध्यम श्रेणी के प्रचारक गण धर्म्म-राज्यसे निकृष्ट प्रजा को बाहिर कर उत्कृष्ट प्रजा गणों की वृद्धि करते रहते हैं; और उत्तम आचार्य्यगण अपनी सर्वहितकारिणी बुद्धिसे धर्म्म-राज्यकी उत्तम-प्रजा-गणों को उत्तम-कर्म्म और अधम-प्रजागणों को अधम-कर्म्म सोंपकर राज्यको शान्तिमय करने का उद्योग करते हैं । अधम-प्रचारक द्वारा नास्तिकता, अशान्ति और अधार्म्मिकता फैलने की सम्भावना है; मध्यम-प्रचारकगण द्वारा दाम्भिकता और साम्प्रदायिक विरोध बढ़नेका भय है, क्योंकि ये प्रचारकगण प्रायः किसीनकिसी साधक-प्रचारक के मतावलम्बी ही हुआ करते हैं; और उत्तम-प्रचारक महात्मागण द्वारा धर्म्म-भूमिमें सुफल फलने की बहुत

आशा होती है, क्योंकि उन के उपदेश ज्ञानी-धर्मप्रचारकगण अर्थात् ऋषिगणों के मतानुयायी हुआ करते हैं । अधम-प्रचारकगण नरक, मध्यम-प्रचारकगण स्वर्ग, और उत्तम-प्रचारकगण मुक्तिके उपदेशक हैं ॥

ज्ञानी-धर्म्मप्रचारकगणों के विषयमें तो कुछ कहाही नहीं जासकता, क्योंकि उनमें ज्ञानका पूर्ण विकाश होनेके कारण वे त्रिकालदर्शी और सर्वज्ञाता हुआ करते हैं; आजकल भी गृहत्यागी संसारविरागी साधुगणों में कहीं कहीं इस प्रकार के धर्म्मप्रचारक देख पड़ते हैं, जहां उनका गमन होताहै उस प्रदेशके सब प्रकार के जीवोंको उनसे उपकार ही पहुँचता है । समय समयपर जैसे साधक-धर्म्म-प्रचारकगण ने प्रगट होकर जीवोंका कल्याण-साधन किया है वैसे श्रेष्ठ अधिकारी सब समय तो नहीं मिलते हैं, परन्तु तोभी साधन-राज्यमें साधक-धर्म प्रचारकगण कभी कभी दिखाई दिया करते हैं; यह प्रचारकगण भगवद्भावराज्य के दर्शक होते हैं, और जो कुछ वे भावों का प्रकाश करते हैं वह ठीकही करते हैं; उनके उपदेश एकदेशी तो होते हैं, परंतु असत्य अथवा भ्रमकारी नहीं होसकते । परन्तु तीसरे प्रकार के धर्म्म-प्रचारक पंडितगणों की बुद्धि योग-युक्त न होनेके कारण सर्व्वदर्शिनी नहीं होसकती, और न साधन-युक्त होनेके कारण भगवद्भावग्राहिणी ही होती है; केवल शास्त्रही उनके अवलम्बन हैं । यदिच जो कुछ वे कहते हैं शास्त्रसेही कहते हैं, परन्तु बुद्धिके दोषसे शास्त्रके अर्थ-ज्ञानमें भी फेर पड़सकता है; बुद्धि त्रिगुणमयी है, जिन पुरुषोंकी बुद्धि सात्विकी होती है वह शास्त्रका अर्थ ठीक लगा सकते हैं, परन्तु जिनकी बुद्धि राजसिक हो वह अहं-कार आदिके वशीभूत होकर शास्त्रके अर्थ को भी अपने

मतानुयायी समझ लेते हैं; और तामसिक बुद्धिकी तो कथा ही नहीं क्योंकि तमोगुण के कारण उनमें भ्रम होने की सब समयही सम्भावना रहती है। दैवकृपा से यदि प्रचारक की बुद्धि सात्विकी हुई तो शास्त्र के अर्थोंका ठीक पता लगकर जिज्ञासुओं के हृदयमें शान्ति पहुँच सकती है, यदि उनमें राजसिक भाव हुआ तो उनके उपदेशोंसे साम्प्रदायिक विरोध बढ़ने लगा; और यदि उनमें तमोगुण अधिक रहा तो उनके उपदेशों से प्रमाद और नास्तिकता आदि बढ़जायगी। इस कारण पंडित-प्रचारक गणोंको उचित होगा कि वे प्रथम अपनी बुद्धिको शुद्धकर सत्वगुणी करलें और पीछे धर्म्मप्रचार आरम्भ करें। सत्वगुणका लक्षण प्रकाश और ज्ञान, रजोगुण का लक्षण अहंकार और कर्म्म में उत्साह, और तमोगुण का लक्षण प्रमाद और अज्ञान है। तमोगुण स्वतः ही रजोगुण से दब जाता है,और रजोगुण भी स्वतःही सत्वगुण के आधीन होजाता है, इस कारण सत्वगुण ही प्रधान है; और इससे सत्वगुणावलम्बी पंडित ही धर्म्मप्रचार करने के यथार्थ अधिकारी होसकते हैं॥

कोई कोई स्वदेशहितैषी विचारकगण ऐसा विचार करने लगते हैं कि जब भारतवर्ष में नाना धर्म्म-सम्प्रदाय होरहे हैं तो उन सबों के लिये एकही प्रकार का धर्म्म-उपदेश कैसे सम्भव होसकता है? स्थिर-बुद्धि द्वारा विचारने से यही सिद्धान्त होगा कि चाहे अनन्त धर्म्म-सम्प्रदायों के बहिर्लक्षण अनन्त हों, चाहे एक सम्प्रदाय के आचार से दूसरे सम्प्रदाय के आचार न मिलते हों, परन्तु धर्म्मकी गति उन सब सम्प्रदायों में एकही प्रकार की होवेगी; अर्थात् बहिरंग का साधन चाहे उन सबों में अलग अलग

हो, परन्तु अन्तःकरण की धर्म्म-वृत्तियों को सब सम्प्रदाय ही एकमत होकर ग्रहण कर सकेंगी। महाराज युधिष्ठिर की सत्यप्रियता और सहिष्णुता, देवव्रत की दृढ़प्रतिज्ञता, लक्ष्मण का भ्रातृभाव और जितेन्द्रियता, सावित्री और सीताका सतीत्व, महर्षि वसिष्ठ की शान्ति और क्षमा भीष्मपितामह का शौर्य्य और गाम्भीर्य्य, राजा जनक की निष्काम-वृत्ति, बलिराजा का त्याग, शुकदेवजी का वैराग्य, और देवर्षि नारद की भगवद्भक्ति किस सम्प्रदाय को प्रिय न होगी; और इस प्रकारकी श्रेष्ठ वृत्तियों के धारण करनेसे किस सम्प्रदाय के साधकगण उन्नत नहीं होसकते? अपने देशकी धर्म्म-सम्प्रदायों की तो कथाही नहीं, समस्त पृथिवी पर जितनी धर्म्म-सम्प्रदायें उपस्थित हैं वे सब भी इस प्रकारकी आन्तरिक-वृत्ति की उन्नति की प्रशंसा किये बिना रह नहीं सकतीं। यदि धर्म्मप्रचारकगण अपनी दृष्टिको सार्व्वभौम रख जीवको उद्धार का पथ बताते रहें तो कदापि न तो किसी सम्प्रदायको क्लेश और न किसी अधिकारीको हानि पहुंचने की सम्भावना है। सार्व्वभौम-भित्ती पर स्थित रहकर, ऊपरसे लेकर नीचेतक सकल स्थानोंमें समदृष्टि रखकर यदि धर्म्मप्रचारकगण धर्म्मप्रचार करनेमें प्रवृत्त हों तो वे कदापि विफल-काम नहीं होंगे; और उनसे किसी कोभी हानि नहीं पहुंचेगी। धर्म्म ईश्वर-राज्य का पदार्थ है, इसकारण ईश्वरराज्य के पदार्थसे कदापि किसीकी हानि नहीं होसकती; प्रत्येक साम्प्रदायिक-धर्म्म में जो कुछ सार्व्वभौमधर्म्म का भाव है, वह अंश जिस प्रकार सब सम्प्रदायों को ही उपयोगी हुआ करता है; उसी प्रकार सार्व्वभौम रूप सर्व्वोत्तम भित्ती पर स्थित होकर यदि धर्म्मप्रचारकगण धर्म्मका प्रचार करें तो वह धर्म्मप्रचार सर्व्व-

जीव-कल्याणकारी होगा । त्रिकालदर्शी पूज्यपाद महर्षिगण इसी उन्नत-भित्ती पर स्थित होकर सदा धर्म्मप्रचार किया करते थे; इस कारण उनके नाना उपदेशोंमें ज्ञान-भूमिके तारतम्य से अधिकार-विरोध रहनेपर भी उनके उपदेश-समूह सर्व्वजीवहितकारी हैं ॥

" प्रचार " शब्द का अर्थ प्रकट करना है; अर्थात धर्म्म-के यथार्थ तत्त्व को संसार में प्रकट करने को ही "धर्म्म-प्रचार" कहेंगे । परन्तु धर्म्म-प्रचार करने का अधिकारी वही होसकता है कि जो सृष्टि सम्बन्धीय पूर्व्व कथित धर्म्म-विज्ञान को पूर्णरूपेण जानता हो । गुरुदेव ही यथार्थ में धर्म्म-प्रचारक शब्दवाच्य होसकते हैं;तंत्र-शास्त्रों में श्री भगवान् देवादिदेव महादेवजीने कहा है कि "त्रिकालदर्शी, सर्व्व-शास्त्रवेत्ता, धर्म्मज्ञाता,पूर्ण सत्वगुणावलम्बी पुरुष ही गुरु-शब्द-वाच्य होसकते हैं; और ऐसे पुरुषों की सहायता लेने से ही जीवगण कल्याणपद को प्राप्त कर सकते हैं" । सत अर्थात ब्रह्म, और असत् अर्थात मायाराज्य यह संसार है, इन दोंनों को विशेष रूपेण जानकर जो पुरुषश्रेष्ठ सदा सत्-पथ में स्थित रहते हों वही उपदेष्टा अर्थात गुरु होने के योग्य हैं । ज्ञानीश्रेष्ठ महर्षि वेदव्यास, महर्षि कपिल, महर्षि याज्ञवल्क्य, महर्षि पतञ्जलि, महर्षि गौतम, आदि महात्माओंने अपने अपने ग्रन्थों में यही प्रकाशित किया है कि प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान के तीन भेद कर सकते हैं, अर्थात उत्तम, मध्यम और अधम । उत्तम-प्रज्ञा विदेहलय अवस्था में अर्थात् मुक्त पुरुष को शरीर-त्याग करते समय प्राप्त हुआ करती है,अर्थात उत्तम--प्रज्ञा के बलसे ही जीव शरीर-त्याग करते समय आकाश-पतित-वारिबिन्दु कीनाई ब्रह्म-रूप सागर में मिलकर मुक्तिपद को प्राप्त कर लेते हैं; इस

कारण उत्तम-विवेक का वर्णन इस स्थान पर करना अनुचित है। और अधमप्रज्ञा वह कहाती है कि जब मनुष्य ज्ञान-भूमि में पहुँचकर उन्नत तो होगया हो अर्थात् बुद्धि की उन्नति तो उस में होने लगी हो परन्तु बुद्धि अभी निर्मल न होने के कारण अन्तःकरण में सन्देह की स्थिति रहती हो; यह अवस्था यदि च मनुष्यों के लिये उन्नत है इस में सन्देह नहीं, परन्तु संशय की स्थिति होने के कारण वह अवस्था भी गुरु-पद-वाच्य नहीं होसकती; अर्थात् जबतक किसी पुरुष के चित्त में संशय शेष रह जाता है तबतक वह पुरुष पंडित होने पर भी जीवगणों का धर्मोपदेष्टा बनने के योग्य नहीं हो सकता; परन्तु इन दोनों अधिकारों के बीच का जो अधिकार है वही मध्यम-प्रज्ञा की अवस्था गुरु अर्थात् उपदेष्टा-पद-वाच्य हो सकती है; और ऐसी ही पूज्यपाद महर्षिगणोंने एवं स्वयं श्रीभगवान् सदाशिवजीने आज्ञा दी है। मध्यम-प्रज्ञा की अवस्था वह कहाती है कि जब साधन की पूर्णतासे महात्मागणों को भगवत्-साक्षात्कार होने से उन का चित्त संशयशून्य होगया हो, और तब वे बन्धन-मुक्त हो केवल आरंभ किये हुए प्रारब्ध भोगने के अर्थ ही शरीर धारण करतेहुए जगत् में विचरण करते हों; शास्त्रों में मनुष्य की इसी श्रेष्ठ अवस्था को "जीवन्मुक्ति" कह के वर्णन किया है। यदि च सम्पूर्ण ज्ञानी पुरुष ही उपदेशक हुआ करते हैं, तथापि केवल मात्र यह मध्यम-प्रज्ञाकी अवस्थावाले अर्थात् पूर्ण ज्ञानी जीवन्मुक्त महात्मा-गणही यथार्थ में उपदेशक अर्थात् गुरु होनेके योग्य हो-सकते हैं। इसकारण धर्म्मप्रचार-श्रवण, और धर्म्मप्रचार-करण इन दोनों अवस्थाओं में ही गुरु और शिष्य अर्थात्

उपदेश-दाता और उपदेश-ग्रहीता दोंनों पुरुषोंको ही वेदोक्त धर्म्म और प्रचार इन दोनों शब्दोंका यथार्थ तात्पर्य समझकर अपने अपने कार्य्योंमें प्रवृत्त होना उचित है। आजकल जिसप्रकार के धर्म्मप्रचार की शैली अधिक प्रचलित हो रही है उस से पुरुषार्थ होने पर भी तदनुरूप फल की प्राप्ति होना प्रतीत नहीं होता; इस का कारण भी अन्वेषण करने योग्य है; क्योंकि कार्य्य और कार्य्यफल इन दोंनों पर ही जब लक्ष पूरा रहेगा तब ही उस कार्य्य से कल्याण की प्राप्ति हो सकती है। आजकल की नवीन धर्म्मप्रचारशैली में देखने में आता है कि धर्म्मप्रचारक पंडित महाशयगण अथवा रजोगुण प्रिय सन्यासीगण व्याख्यानों द्वारा सभास्थलों में प्रायःही धर्म्मोपदेश दिया करतेहैं। राजसिकजगत् में यह शैली परम उपकारी होनेपर भी, सात्विकजगत्के धर्म्म--प्रचार--कार्य में यह फलदायक नहीं होसक्ती; और इस कारण से ही प्रबल पुरुषार्थ करनेपर भी आजकल के साम्प्रदायिक-धर्म्मप्रचारकगण वाक्यतः बहुत कुछकर-रहे हैं परन्तु कार्य्यतः उन से धर्म्म-जगत् में थोड़ा ही काम बन पड़ा है, इस शैलीसे राजसिक-कामोंमें सफलता होने परभी सात्विक-कामोंमें कुछभी विशेष सफलता अबतक नहीं देख पड़ी है। वर्त्तमान समयमें जो धर्म्मप्रचार-शैली प्रचलित होरही है वह प्राचीन शैली नहीं है; क्योंकि प्राचीन कालमें इस प्रकार से बलपूर्व्वक धर्म्मोपदेश देनेकी प्रथा थी ही नहीं। व्याख्यान जिसको अंग्रेज़ी भाषा में "लैक्चर" अथवा "स्पीच" कहते हैं यह शैली यूरोपकी है; अर्थात् राजसिकपश्चिमी विद्वान्गणने रजोगुण के कार्य्य निकालने के अर्थ यूरोपमें इस प्रथाका अधिक प्रचार किया है; और आजदिन इस वक्तृता-चातुरी रूप शिल्पसे राज-

सिक-जगत् में बहुत कुछ काम भी निकल रहाहै; उसी राजसिक-शैलीके अनुकरण पर नवीन भारत भी धर्म्म-प्रचार में उस शैलीको प्रधान सहायक मानने लगा है। परन्तु जो कार्य जिस गुणसे किया जायगा उससे फलभी उसी गुण सम्बन्धीय निकलेगा। विद्याभिमानी पंडित महाशय जब धर्म्मव्याख्यान रूप "स्पीच" देनेकी इच्छा करेंगे तब वे पहलेही रजोगुण के वशीभूत होकर अहंतत्त्व के आधीन होते हुए स्वयं ऐसी इच्छा प्रकाश करेंगे कि "हम ज्ञानी हैं, और हम धर्म्मप्रचार करेंगे;" तो धर्म्मप्रचारकों की वह अवस्था रजोगुण की हुई; पुनः विज्ञापन अर्थात् "नोटिस" बांटकर सभा आह्वान करना आदि कार्य्यभी रजोगुण-संभूत हुआ करते हैं। इस प्रकार से प्रथम तो उपदेशकही राजसिक होतेहैं, द्वितीयतः श्रोतागणभी राजसिक वा तामसिक हुआ करते हैं; अर्थात् परीक्षा करनेकी इच्छा, समय व्यतीत करने की इच्छा इत्यादि भावयुक्त होकर श्रोतागण सभामें एकत्रित हुआ करते हैं। जब श्रोतागण परीक्षा की इच्छा से आवें तो वह राजसिक श्रोता, और जो समय काटने के अर्थ अथवा प्रमाद आदि के वशीभूत होकर आवें तब उन की अवस्था तामसिक है इस में सन्देह नहीं। इस कारण जब धर्म्म-उपदेष्टा राजसिक और धर्म्म-उपदेश-गृहीतागण राज-सिक वा तामसिक हुआ करते हैं; तब नवीन धर्म्म-प्रचार-शैली से कैसे सत्वगुण-सम्भूत आत्मज्ञान की प्राप्ति होना सम्भव है? रज और तम गुण से राजसिक वा तामसिक फल की ही सिद्धि हुआ करती है, किन्तु उन से कदापि सा-त्विकफल-प्राप्ति की सम्भावना नहीं। किन्तु प्राचीन काल में जो धर्म्म-प्रचार की शैली थी उस से ही सकल समय में धर्म्म-अधिकार की प्राप्ति होगी; वह शैली सात्विक-शैली

है, इसकारण उस से फल भी सात्विक हुआ करता है। धर्म्मोपदेशदान व धर्म्मोपदेशग्रहण करने की सनातन-धर्म्मोक्त प्राचीन शैली यह है कि प्रथम जिज्ञासु त्रिताप से तापित होकर एवं अपने को अनुपयुक्त समझकर दीन-भावापन्न हो अपनी मंगलकामना के अर्थ उपदेष्टा गुरु के स्थानपर जाकर शीलताधारणपूर्व्वक करजोड़कर उपदेश-प्राप्ति की इच्छा करे। प्रथम तो संसार को दुःखमय और धर्म्मज्ञान को सुख का कारण वही समझ सक्ता है कि जिस के हृदय में कुछ वैराग्य की उत्पत्ति हुई होगी; इस प्रकार से वैराग्ययुक्त जिज्ञासु जब अपने को अनुपयुक्त समझ कर और गुरु को उपयुक्त समझ कर दीन और बद्ध-कर होता हुआ गुरुदेव के सन्मुख जायगा तो स्वतः ही उसका अन्तःकरण उस समय सत्वगुण को धारण करेगा इस में सन्देह नहीं। इसी प्रकार जब निश्चेष्ट गुरु की दृष्टि दीन और दुःखी शिष्यपर पड़ेगी तो पूर्णज्ञानमय तपःस्वाध्यायनिरत व जीवहितकारी श्रीगुरु के हृदय में अवश्य करुणा का उदय होगा, और तबही उन से सत्व-गुणसम्भूत उपदेश–क्रिया की स्फूर्ति होगी; श्रीगुरु महा-राज तो कुछ निजइच्छा से उपदेश नहीं देते थे कि उन में रजोगुण का प्रकाश हो किन्तु दयाके वशीभूत होकरही परोपकार करने के कारण वे जब शिष्यको उपदेश देंगे तो उनके हृदयमें उस समय सत्वगुण का पूर्ण विकाश ही रहेगा इसमें भी सन्देह मात्र नहीं। इस अभ्रान्त और अतिउत्तम शैलीके अनुसार जब सत्वगुणावलम्बी शिष्य सत्वगुण भावापन्न श्री गुरुदेवके निकट जाकर धर्म्म–जिज्ञासा करेगा तब स्वतः ही उस धर्म्मप्रचार–कार्य्य से सात्विकफलरूप, आत्मज्ञान रूप धर्म्मफल की उत्पत्ति होगी इसमें सन्देह

नहीं । धर्म्म केवल ज्ञानमय–सत्वगुण–राज्य का पदार्थ है; जब गुरु और शिष्य अर्थात् उपदेशदाता और उपदेश गृहीता दोंनों ही सत्वगुण में स्थित होंगे तभी धर्म्म–लाभ की सम्भावना है; अन्यथा और गुणोंके कार्य्यों में कदापि सत्फल की आशा नहीं । राजनैतिक–उन्नति, सामाजिक-उन्नति, अथवा और २ सांसारिक–वैषयिक–उन्नति जिस रीति पर होसकती हैं उस रीति पर धर्म्मोन्नति होनेकी सम्भावना नहीं है; धर्म्म केवल ईश्वर राज्यका पदार्थ है; इसकारण जब उपदेशदाता और उपदेशगृहीता दोंनों ही संसार से दृष्टि हटाकर ईश्वर–राज्य में पहुंच जाँय तभी प्रचारक के धर्म्मप्रचार का फल और श्रोताके धर्म्म–श्रवण का फल यथार्थरूपेण प्रकाशित होसकता है ॥

सुकौशलपूर्ण जो कर्म्म किया जाता है तो उस से फल की सिद्धि हाथोंहाथ मिला करती है; सुकौशलपूर्ण कार्य्य कदापि निष्फल नहीं होता। उलझी हुई ग्रन्थी को यदि सुकौशलपूर्ण–क्रिया द्वारा सुलझाने लगें तो वह तुरंत ही सुलझ जायगी, परन्तु सुकौशल का अभाव होने से सुलझने का तो पता ही नहीं, किन्तु वह ग्रन्थी और भी उलझती जायगी; इसकारण " धर्म्म " और " प्रचार " इन दोंनों शब्दों के यथार्थ भाव को ग्रहण कर के सुकौशलपूर्ण उद्योगद्वारा "धर्म्मप्रचार" रूप पुरुषार्थ करने से अवश्य ही फल की प्राप्ति होगी इस में सन्देह मात्र नहीं ॥

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! हरिःओम् ॥

रागिनी कल्यान, ताल चौताल।

मन गाओ गाओ नाम वाको ।
यह विश्व गावत है नाम जाको ॥ १ ॥
सूर्य्यचन्द्र भ्रमन करत, जाके गुणरासि गावत ।
तारक कुल हँसत हँसत, नाम भाखत ताको ॥ २ ॥
उत्तालतरङ्ग रङ्ग धारत, नाम जाको वारिध गावत ।
"कुलकुल" नादनिनाद करत, सरिता ध्यावत वाको ३
पंछी गावत कुञ्जनिकुञ्जन, फूल फूल गावत वन उपवन ।
यह भक्त सुनत मनही मन, विश्व गावै ताको ॥ ४ ॥

रागिनीजोगिया. ताल मध्यमान।

अपार कर्मश्रोतमें मैं बहि बहि बहि जातजू ।
सहत हूं कित दुःखतरङ्ग घात प्रतिघात हू ॥ १ ॥
कहाँसे भला बहि आवत, कहाँ को अबजात बहत ।
तैरत बूड़त, उतरत गिरत, ज्यों लहर लहरातजू ॥२॥
यह है अपार पारावार, नहिं दीसत अब वारापार ।
कहाँ हो हे विश्वनाथ, करो दृष्टिपातजू ॥ ३ ॥
टुक झांकी मैहर हेरो, यह प्रबल श्रोतगति फेरो ।
नहिं तो कर धारो, अब नहिं सहिजातजू ॥ ४ ॥

ओंश्रीगुरवेनमः ।

हिन्दीभाषा ।



उत्तर में हिमालय के पवित्र प्रदेशों से ले दक्षिण में भारत-समुद्र के तट पर्य्यन्त, और पूर्व्व में ब्रह्मपुत्र के तीरवर्त्ती प्रदेशों से ले पश्चिम में सिन्धुनदी तक, इस विशाल देवभूमि के विभिन्न प्रदेशों में यद्यपि अब बहुत प्रकार की भाषाऐं बोलीजाती हैं, तथापि विचार से यही सिद्धान्त होता है कि यदि अब भी कोई सार्व्वभौमिक भाषा हो तो वह हिन्दी भाषा ही है, जोकि अनादि और अभ्रान्त देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती है ।

यह तो सर्ववादीसम्मत है और इस को ज्ञानाभिमानी पाश्चिमीय वैज्ञानिक-जनगणों ने भी स्वीकार कर लियाहै कि, सब से प्राचीन भाषा संस्कृतहै;औरहमारे शास्त्रों में तो अनेक ही प्रमाण मिलते हैं कि यह देववाणी अनादिकाल से प्रचलित है। ऋषिकाल में तो समस्त भारतवासी ही इस श्रेष्ठभाषा को बोलतेथे।पश्चात् जब ऋषिशिक्षा की कुछ न्यूनता होने लगी तब साधारण लोगों में संस्कृत की अपभ्रंश "प्राकृत" भाषा प्रचलित हुई; इस समय ब्राह्मणगण और नृपति आदि शिक्षितगण तो संस्कृत बोलते थे और साधारण जन एवं स्त्री, बालक आदि इस नवीन भाषा को बोलते रहे। इसका प्रमाण अधिक ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं है, केवल काव्य और नाटकों के देखने सेही यह भलीभांति सिद्ध होजाता है । पुनः जब संस्कृत का प्रचार बहुतही थोड़ा रहगया और ऋषिशिक्षा प्रायः जाती ही रही तब प्राकृत

भाषा से "पाली" भाषा की सृष्टि हुई। परन्तु प्राकृत भाषा की नाईं पाली भाषा अशिक्षित लोगों में ही नहीं रही किन्तु इसको विद्वानोंने भी ग्रहण किया और राज-काज में भी यह भाषा प्रचलित हुई, अब भी अगणित वैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक और काव्य-ग्रन्थ इस भाषा में देख पड़ते हैं। बौद्ध-धर्म्म जिसका कि विस्तार पृथिवी के सकल धर्म्मों से अब अधिक है, उसके धर्म्म-पुस्तक इस पाली भाषा में ही लिखित हैं। ग्रन्थों के देखने से प्रतीत होताहै कि इस भाषा ने भी किसी समय बड़ी उन्नति पाई थी॥

तदनन्तर ऐसा विचार होताहै कि जब ब्राह्मणगण पुनः सम्हले और सनातन वैदिकमार्ग को सुधारने लगे, उस समय शासक राजाओं के परिवर्तन से एक बड़ाही राजनैतिक उलट फेर हुआ था, उसी समय में मधुर हिन्दी-भाषा की सृष्टि हुई; और तबसे अभीतक यह भाषा अपने प्रवर्त्तक आर्य्य-गणों का नाम रखती हुई इस भारतभूमि में प्रचलित है। यद्यपि अन्य भाषाओं के उलटफेर और संसर्ग के कारण इसी मधुर भाषा से उर्दू, पंजाबी, मराठी, गुजराती, बङ्गाली, उड़िया आदि बहुत प्रकार की भाषाओं की सृष्टि हुई है और वे शनैः शनैः उन्नत होकर बहुत प्रशंसनीय दशा पर पहुँचगई हैं, तथापि इस भाषा का आदर अब भी पंडित गणों में पूर्णतः बना हुआ है। हिन्दी-भाषा से उत्पन्न हुई उपरोक्त भाषाओं की उन्नति कितनी ही क्यों न हो परन्तु उनमें भारतवर्ष की सार्वभौमभाषा बनने का भाव कदापि स्थापित नहीं होसक्ता; कारण उन पृथक् २ प्रादेशिक भाषाओं से उन उनके प्रदेशों में ही कार्य चलसक्ता है, परन्तु दूसरे प्रदेशों में उन भाषाओं से कोई कार्य नहीं चलसक्ता। जैसे यदि कोई वंगभाषा का पंडित गुर्ज्जर देश में जाय तो उसकी

भाषा को तत्रस्थ जन नहीं समझ सकेंगे; इसीभांति कोई मराठी व गुजराती भाषा का बोलनेवाला पञ्जाब प्रदेशमें-चलाजावे तो उसको सम्भाषणादि करना वा अपने इच्छित भाव दूसरों पर सुगमतया प्रदर्शित करना महा कठिन होगा; परन्तु यदि कोई हिन्दी-भाषा का जाननेवाला इन प्रदेशों में से चाहे जहां चला जावे उसको सम्भाषणादि करने की कठिनता नहीं होगी, क्योंकि प्रत्येक प्रदेश के लोग थोड़ा और बहुत हिन्दी भाषा को समझही सकते हैं;और इसका मूल हेतु यही है कि हिन्दी भाषा ही भारत-वर्ष की इन आधुनिक सब भाषाओं की जननी है । इस कारण हिन्दी-भाषा ही भारतवर्ष की सार्वभौमभाषा होने के उपयुक्त है इसमें सन्देह मात्र नहीं ॥

नदी पर्वतों से निकलती हैं;और जैसे जैसे आगे बढ़ती हैं उनका प्रवाह भी बढताजाता है। इधर उधर के पाषाण जब प्रवाह में आ गिरते हैं तो वेग के अनुसार वे थोड़ी बहुत दूर तक बहते हैं और प्रायः यह क्रिया प्रतिदिन हुआ करती है, इसकारण आपस की रगड़ से उन पाषाणों का आकार बदलताही जाता है, यहांतक कि घिसते घिसते उनका आकार एक नूतन भाव को धारण करलेता है; इसीभांति सब भाषाएं भी रूपांतर को धारण करती रहती हैं।व्यवहार रूपी प्रवाह में शब्दरूप पाषाणभी रगड़ खाकर रूप बदलते जाते हैं; इस लिये अधिक काल में उन शब्दों का पहिंचानना कठिन होजाता है। आदि में संस्कृतभाषा का प्रचार था; जब-तक नियमानुसार पठन पाठन होतारहा लोगों को शब्दों की शुद्धाशुद्धि का ज्ञान बने रहने के कारण शब्दों का उच्चारण यथावत् बना रहा, परंच जब शिक्षा का प्रचार शिथिल होने लगा संस्कृत भाषा का भी रूपांतर होकर प्राकृ-

तभाषा, और क्रमशः प्राकृत–भाषा से पाली–भाषा बन गई। यह वह भाषा है जिस में "ललितविस्तर" तथा "कारण्डव्यूह" इत्यादि बौद्धों के ग्रंथ लिखे गये हैं; और भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रदेशों में अशोक राजा के जो शिला–लेख देखने में आते हैं वे भी इसी भाषा में हैं। कुछ कालतक इस भाषा की विशेष उन्नति हुई; राजकीय यावद्व्यवहार इसी भाषा द्वारा होते रहे और उस समय के पंडितों ने भी प्रायः सबही विषयों के ग्रंथ इसी भाषा में लिखे। परंच अधिक व्यवहार में आने के कारण इसका रूपांतर बहुत शीघ्रता के साथ होने लगा; शब्दों के आकार और भी अधिक भावान्तर को धारण करने लगे। इसरीति से जो भाषा प्रकट हुई उस का नाम अपभ्रंश हुआ। भारतवर्ष जैसे विशाल देश में एक भाषा का स्थिर रहना असंभव था क्योंकि जिस भाषा की रक्षा करनेवाला व्याकरण नहीं होता वह भाषा बहुत कालतक एक रूप में नहीं रह सकती। यद्यपि पाली वा प्राकृत भाषा के कई व्याकरणग्रंथ विद्यमान् हैं तथापि वे यथार्थ व्याकरण नहीं हैं; क्योंकि इन प्राकृतव्याकरणों का यह उद्देश्य है; कि अमुक प्राकृत शब्द किस संस्कृतशब्द का अपभ्रंश है अर्थात् किस संस्कृत शब्द के बिगड़ने से यह प्राकृत शब्द बनाहै इसका पता लग जाय। तात्पर्य यह कि प्राकृत–शब्द को देखकर उसके मूल भूत संस्कृत–शब्द का निश्चय कर लेना यही प्राकृत-व्याकरणों का उपयोग है। इस पिछली भाषा के चार मुख्य भेद हुए; मागधी, सूरसेनी पैशाची और महाराष्ट्री*। सेतुबंध, हालसप्तशती, बृहत्कथा, गोमदसार इत्यादि ग्रंथ इनके उदाहरण हैं॥

---

* (नोट) आजकल की महाराष्ट्री (मरहठी) भाषा से उस पूर्व महाराष्ट्री भाषामें बहुत अंतर था।

नियमानुसार ये भाषा भी स्थिर न रहसकीं, और अर्द्ध-मागधी, देशी वा ठेठ-हिन्दी इत्यादि भाषाओं की सृष्टि हुई। यहांतक जो परिवर्तन हुआ वह एकही प्रकार का था; परंच जब पश्चिमसे यवनों का भारतवर्ष पर आक्रमण होना आरंभ हुआ और उन लोगों से भारतवासियों की बोल-चाल का व्यवहार होने लगा तो उनकी भाषाओं के शब्द भी इस देश की भाषाओं में मिश्रित होने लगे और यों क्रमशः उर्दू-भाषा की सृष्टि हुई। परन्तु उर्दू-भाषा अपने ग्रहण योग्य नहीं है; क्योंकि वह यवन-भाषामिश्रित एक नवीन भाषा है। आजदिन यदि आर्य-सन्तानों के ग्रहण योग्य कोई भाषा हो तो वह संस्कृत-भाषा की शेष-अपभ्रंश-रूपी हिन्दी-भाषा ही है। इस मधुर भाषा कोही आजदिन भारत-वर्ष में सार्व्वभौमभाषा समझ सकते हैं॥

संस्कृत-अनुयायी जितनी भाषा अब भारतवर्ष के प्रदे-शान्तरों में प्रचलित हैं उन सबों में से वङ्गभाषा आजदिन सर्वोत्तम गिनीजासक्ती है। यदिच इस भाषा की सृष्टि अर्द्धमागधी वा ठेठ-हिन्दी-भाषा से ही हुईथी, क्योंकि वङ्गभाषा के आदिकवि चण्डीदास विद्यापति आदि के ग्रन्थ देखने से स्पष्ट प्रतिपन्न होता है कि वङ्गभाषा आदि भी हिन्दी-भाषा से ही निकलीथीं, परन्तु अब इस भाषाने हिन्दी-भाषा से भी बहुत अधिक उन्नति पाई है; भाषा के सम्पूर्ण होने के जो जो लक्षण हैं वे सब ही वर्तमान् वङ्ग-भाषा में पाये जाते हैं। देखते देखते थोड़े ही दिनों में इस नवीन भाषा ने ऐसी उन्नति पाई है कि अब उस में कुछ अधिक अभाव देख नहीं पड़ता। पूजनीय पण्डितवर ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर, पण्डितवर राय बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय, कविश्रेष्ठ मधुसूदनदत्त प्रभृति थोड़े से ही स्वदेशहितैषी

विद्वद्वरों के प्रयत्न से अतिशीघ्रही इस भाषा की ऐसी उन्नति हुई है कि हिन्दी-भाषा को उस उन्नतअवस्था तक पहुंचने में अभी बहुत देर है। बड़े ही दुःख का विषय है कि एक अतिनवीन भाषा जो कि भारतवर्ष के एक कोने में ही बोली जाती है उसने थोड़े से ही विद्वानों के परिश्रम से इतनी उन्नति पाई, परन्तु हिन्दी-भाषा जोकि एक प्राचीन काल से भारतवर्ष में प्रचलित है और अब भी समस्त भारतवर्ष की पण्डितमण्डली की मातृभाषा है तिसपर भी हमारे प्रिय भाइयों की रुचि इसकी उन्नति की ओर नहीं होती !!!

भाषा की शोभा साहित्य और साहित्य की शोभा काव्य है; हो न हो इसी विचार के वशवर्ती होकर हमारे पूर्व पुरुष ऋषिगणों ने जितने ग्रन्थ बनाये थे वे प्रायः पद्य में ही लिखे गये थे। गद्य-ग्रन्थों के बनाने की परिपाटी ऋषिगणों में थोड़ी थी; इसीकारण हमारे हिन्दी-भाषा के आचार्य्य-गणों ने भी गद्यरचना पर मन नहीं दिया था। हिन्दी-भाषा के जितने श्रेष्ठ आचार्य्य हुए; यथा-

"सूर[1]सूरतुलसी[2]शशीउडगनकेशव[3]दास ।
अबकेकविखद्योतसमजहँतहँकरहिंप्रकास" ॥

उन सब महाशयों ने जो कुछ लिखा सो सब पद्य में ही लिखा; क्योंकि उस समय की परिपाटी ही यही थी कि 'काव्य हो तो पद्य में ही हो'। यदि कहीं कोई गद्य-ग्रन्थ वैदिक, ज्योतिष अथवा साम्प्रदायिक मिलते भी हैं तो सड़ीगली हिन्दी में लिखे हुए मिलते हैं यह इसी परि-पाटी का ही दोष था कि हिन्दी-भाषा की विशेष उन्नति न होसकी। अब अँग्रेज़ी-शिक्षाप्रचार के साथ साथ यह भाव लोगों के हृदय में उदय हुआ कि विना गद्यपद्यात्मक

ग्रन्थों के भाषा की पूर्ण शोभा नहीं; और न वह सर्वसाधारण के बोध--उपयोगी और उपकारी होसकती है; इसी विचार से प्रेमसागर, रानी केतकी की कहानी, आदि ग्रन्थों का दर्शन हुआ और इसी विचारसे राजा शिवप्रसादजी ने भी समयानुसार खिचड़ी--हिन्दी के प्रचारमें कलम उठाई। परन्तु अति मधुर,सुन्दर और अमिश्रित हिन्दी-भाषा भारतवासियों के कर्णगोचर तबतक नहीं हुई जबतक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने भाषा के सुधारने में लेखनी नहीं चलाई। यह इन्हीं भाषा के श्रेष्ठ आचार्य्य महाशय का परिश्रम है कि जिससे भारतवासियों ने मधुर हिन्दी-भाषा के गद्यकाव्य देखे; उन्हीं कविश्रेष्ठ के निःस्वार्थ भाषानुराग का फल है कि जिससे हिन्दी--भाषाज्ञों ने जा ना कि, समाचारपत्र क्या है गद्यमय मधुर भाषा कैसे लिखी जाती है । सकल विद्वान् मंडली इस बात को भलीभांति जानती है, कि बाबू हरिश्चन्द्रजी ने प्रिय भारतवासी और हिन्दी-भाषा की उन्नतिके अर्थ कितने स्वार्थ त्याग किये थे। इस स्वदेशहितैषी महाशय के निकट हिन्दी भाषा सदाही ऋणी रहेगी । परन्तु शोक है! कि भारत की प्रारब्ध से भारतेन्दु के अस्त होने पर पुनः किसी भारत-संतान ने हिन्दी की उन्नति की ओर ध्यान नहीं दिया और इसीसे हिन्दी–भाषा की उन्नति का बढ़ता हुआ श्रोत पुनः मन्द पड़गया। हां सौभाग्य से देवनागरी-प्रचारिणी " सभा काशी की संस्थापना से हिन्दी-भाषा की सहायता पुनः होनी प्रारंभ हुई है । इस प्रशंसनीय सभा द्वारा हिन्दी–भाषा के सुलेखकों को कुछ उत्साह और उत्तेजन मिलने लगा है, और२प्रकार भी इसकी उन्नति के लिये सोचे जाते हैं ॥

यह हमाराही दोष है कि, भाषा की उन्नति अभीतक सम्पूर्ण न होसकी; हम लोगोंमें संस्कृतज्ञ ब्राह्मणगण जिनसे कि हमारी मातृभाषा अधिक आशा रखती है उन्होंने तो व्याकरण के "खरें घोकना" और आजीविका के अर्थ मीन, मेख, मकर की कर्कश बातें कंठस्थ कर लेने कोही परम पुरुषार्थ कर माना है, अर्थात् चाहे ऐसे लोगों को संस्कृत का पूर्ण ज्ञान हो वा न हो वे हिन्दी-भाषा का नाम सुनने वा हिन्दी-भाषा का कोई ग्रन्थ पढ़ने से अत्यन्त ही घृणासी प्रकट करते हैं। और अँग्रेज़ी स्वभाव के लोगोंने "डेम" काले आदमी की हिन्दी-भाषा में वार्तालापकरना ही नीचता मानली है; अब रहे मध्यवर्त्ती लोग, वे बिचारे करें तो क्याकरें? यातो वे अपने कार्य्य-उपयोगी पहाड़े और थोड़ीसी मुन्डी यादकर अपनी दुकानदारी और सूद गिनने में प्रवृत्त होजाते हैं, या बहुत जोर मारा तो मक्तब में पढ़ "तालीमयाफ़्ता" बनजाते हैं। अब बताइये! भाषा की उन्नति करे तो कौन करे?

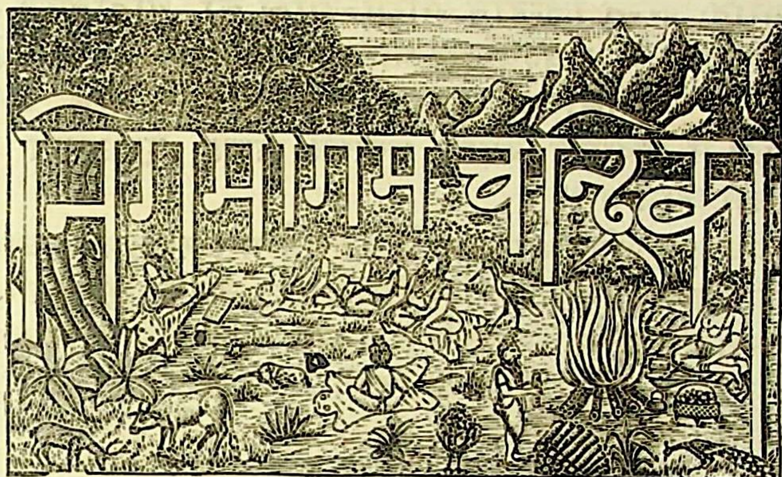
हे स्वदेश हितैषी भाइयो! यदि अपना और दुःखिनी मातृभूमि का हित चाहो तो इस हिन्दी-भाषा की उन्नति और विस्तारकरने में सदाही प्रयत्न करो। आजकल के प्रधान वैज्ञानिकगणों ने एकमत होकर यही कहा है कि, यदि स्वदेश और स्वजाति की उन्नति होसकती है तो वह अपनी मातृभाषा की उन्नति और विस्तार से ही होगी। भ्रातृगण! साक्षात् सम्बन्ध से विचार देखिये अमिश्रित-हिन्दीभाषा ही आप की मातृभाषा है; और इसी की उन्नति और विस्तारपरही आप की जातीय-उन्नति निर्भर है॥



रागिनी इमनकल्यान, तालमध्यमान।

सुमिरो मन वह त्रिभुवनजननी, त्रिलोकप्रकासिनी।
त्रिलोकपालिनी, त्रिलोकनासिनी ॥ १ ॥
प्रभातको बालिकाऽकृति, आदित्य मंडल में थिति।
लोहितबरन मोहनी, अपरूपरूपधारिनी ॥ २ ॥
मध्याह्ने युवतिवामा, श्यामवर्णा रूपधामा।
सन्ध्या समय होत वृद्धाश्वेताङ्गिनी ॥ ३ ॥
ब्रह्मारूप नाभिमूलमें, विष्णुरूप हृत्कमलमें।
द्विदलपर शिव हो सोहत वह सोहिनी ॥ ४ ॥

ॐ नमोभगवतेवासुदेवाय।



ग्रीष्मऋतुः—कलाब्दाः ४९९८.

भाग २	ज्येष्ठ एवं आषाढ़मास.	संख्या २

राजकथा।

(पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा विरचित)

आर्य्य-शास्त्र के अनुसार राजा को देवांश करके माना है, और अति प्राचीनकाल से इस भारतवर्ष में राजा को शरीरधारी-देवता की नाईं पूजते चले आते हैं; इस भारत-भूमि में जैसी राजभक्ति प्रचलित है, वैसी पृथिवी के और किसी देश में नहीं है। पृथिवी के वर्त्तमान इतिहास के देखनेसे सिद्धान्त होताहै कि, इस समय जितने उन्नतिशील राज्य हैं, वहां एक एक राज्यविद्रोही—सम्प्रदाय भी अवश्य है;

जैसे रूसमें "निहिलिस्ट" और फ़्रांस में "अनार्किस्ट" इत्यादि; परन्तु जिन्होंने आर्य्य-शास्त्र को थोड़ाबहुत भी देखा होगा वे अवश्य इस बात का विश्वास करेंगे कि इस प्राचीन भारतभूमिमें जबतक पवित्र सनातनधर्म्म अपने स्वरूप में प्रचलित रहेगा तबतक राजा देवस्वरूप ही समझा जायगा ॥

अब इस पवित्र भारतभूमि की वर्त्तमान एकछत्रा सम्राज्ञी राजराजेश्वरी श्रीमती विक्टोरिया है; उसके सुशासन से समस्त भारत-प्रजा-मण्डली सुख और शान्ति से कालयापन कर रही है और भारत के देशीय राजागण भी शान्ति सुखभोग कर रहे हैं ॥

हमारी राजराजेश्वरी ने भारतवर्ष के राजागणों को सात श्रेणियों में विभक्त किया है।हैदराबाद,मैसोर,और बड़ौदा,ये प्रथमश्रेणीभुक्त समझे जाते हैं। इन तीन राजाओं के सन्मान के लिये इक्कीस २ तोपें छूटती हैं। मेवार अर्थात् उदयपुर, कश्मीर, ग्वालियर, इन्दौर, त्रावणकोर, भूपाल, क़िलात और कोल्हापुर के अधीश्वरगण द्वितीयश्रेणीभुक्त हैं। और इनके सन्मानार्थ उन्नीस २ तोपें छूटती हैं । इन्हीं द्वितीय श्रेणीभुक्त राजागणों में से किसी किसी महाराजाके व्यक्तिगत सन्मानार्थ दो तोपें बढ़ा दीगई हैं। जोधपुर, जयपुर, रींवा, बीकानेर, बूंदी, कोचीन,करौली, कोटा, कच्छ और पटियाला के अधीश्वरोंको तृतीयश्रेणीभुक्त किया गया है। इनको सत्रह २ तोपें सन्मानार्थ मिलती हैं। किशनगढ़, टोंक उर्छा, भरतपुर, अलवर, देवास, धार, धौलपुर, डूंगरपुर, दतिया, ईदर, जैसलमेर, झालावार, खैरपुर, प्रतापगढ़, सिरोही और सिकम देश के राजागण चतुर्थश्रेणीभुक्त हैं । इनके लिये पन्द्रह २ तोपें छूटती हैं । भावनगर, ध्रांगध्रा,

जूनागढ़, नौनगढ़, रामपुर, काशी, जावरा, कूचबिहार, रतलाम और तियारा के राजागण आदि पंचमश्रेणीभुक्त हैं। और इनके सन्मानार्थ तेरह तेरह तोपैं छूटती हैं। जींद, नाभा, पन्ना, अजयगढ़, बांसवाड़ा, बावनी, बिजावर, काम्बे, चरखारी, चम्बा, छत्रपुर, फरीदकोट, झाबुआ, कलहर, कपूरथला, मंडी, नरसिंहगढ़, पाल्हनपुर, पोरबन्दर, राधनपुर, राजगढ़, राजपिप्पली, शिल्लन, सीतामऊ, सिरमौर, सुकेत और समथर के राजागण षष्ठश्रेणीभुक्त हैं। इनके सन्मानार्थ ग्यारह२तोपैं छूटती हैं। मालियर, कोटला, टिहरी, अलीराजपुर, बालासिनर, बारिया, बारवानी, छोटा उदयपुर, लूनावारा, नागोद, सावंतवाड़ी और ओसन्थ, आदि के राजागण सप्तमश्रेणीभुक्त हैं। इनके सन्मानार्थ नौ नौ तोपैं छूटती हैं। इन राजाओं के उपरान्त कुछ ऐसे भी राजा हैं कि, जिनका पदगत सन्मान नहीं है, परन्तु व्यक्तिगत मिलरहा है ।

महारानी राजराजेश्वरी विक्टोरिया ने अपने भारत-साम्राज्य के करदाता और मित्रराजाओं को जिसप्रकार श्रेणीबद्ध किया है, उस प्रकार से इस " राजकथा " में भारतीय राजाओं के इतिहास लिखने की हम लोगों की इच्छा नहीं है। यद्यपि यह प्रबंध भारतीय-राजकुल के इतिहास वर्णन के लिये ही आरंभ किया गया है, परन्तु राजवंशों के प्राचीनत्व के अनुसार जैसा जैसा इतिहास संग्रह होता जायगा वैसाही इस प्रबन्धमें क्रम से प्रकाश करेंगे ॥

सनातनकाल से इस पवित्र भारत--भूमि में सूर्य्य और चन्द्रवंशी राजागणों की श्रेष्ठता पाई जाती है; और यही दोंनों राजवंश भारतवर्ष के सब राजवंशों में प्राचीन हैं, इसीकारण इन्हीं वंशों में वर्त्तमान राजागणों के चरित्र से यह प्रबन्ध प्रारम्भ किया जाता है ॥

मिवार ।

मिवार राज्य जिस की राजधानी प्रथम चित्तौड़ गढ़ थी, परन्तु अब उदयपुर है; हमारे भारत-साम्राज्य की राजपूताना एजेन्सी के अन्तर्गत है । एक बहुत ही प्राचीन काल से यह राज्य सूर्य्यवंशी राजागण के आधीन है; इस के शासन कर्त्ता श्रीभगवान् रामचन्द्र के कुल में से हैं; और "महाराणा" उपाधि से प्रसिद्ध हैं । वर्त्तमान समय में जितने प्राचीन राजवंश भारतवर्ष में हैं, उनमें से इस वंशका गौरव इतिहासों में बहुतही कुछ देखने में आता है। इस वंशके राजाओं का इतिहास पढ़ते पढ़ते यह भ्रम होता है कि, मानों पुराणों में त्रेता और द्वापर युग के राजाओं का इतिहास पढ़ रहे हैं । यहां धर्म्मवीर, स्वदेशहितैषी और स्थिरप्रतिज्ञ राजाओं का जन्म बहुत हुआ है। जितने दिन पृथिवी पर इतिहास रहेगा और वीरता की पूजा रहैगी, उतने दिन वीर चूड़ामणि महाराणा प्रतापसिंह प्रभृति राजागणों का नाम लुप्त न होगा। पाठक कैसेही धर्म्मावलम्बी हों, हमारा विश्वास यह है कि मिवार-इतिहास पाठ करने के समय अवश्यही रोमांचित होंगे । प्रसिद्ध भारतइतिहास--लेखक कर्नल टाड साहब ने पृथिवीकी सब जातियों के वीरगणों में से मिवार-वीरों को प्रधान और सर्वोत्तम कर के लिखा है । और इन्हीं धर्म्मवीर राजाओं को लक्ष कर के कवियों ने भी गाया है॥ यथा–

" बेदराखेविदित, पुरानराखेसारयुत ।
रामनामराख्यौ अतिरसना सुधारमें ॥
हिन्दुनकीबेटी रोटीराखीहैंसिपाहिनकी ।
कांधेमेंजनेऊराख्यौ मालाराखीगरमें ॥

मींड़िराखेमुगल, मरोड़राख्यौबादसाह ।
बैरीपीसराखे, बरदानराख्योकरमें ॥"

इस आदि और पवित्र वंश का निकास श्री भगवान् नारायण से पांचवीं पीढ़ी में सूर्य्य महाराज से हुआ है। जिनसे साठवीं पीढ़ी में श्रीभगवान् रामचन्द्र महाराज हुए; श्रीभगवान् के ज्येष्ठ पुत्र लव के वंश में से मिवार अधिपति गणों का वंश निकला है, इसी कारण इस वंश के राजाओं को इतिहास-लेखकों ने "हिन्दू-सूर्य्य" करके लिखा है। ऐतिहासिक ग्रन्थों में छत्तीस प्रकार के क्षत्रिय-राजवंशों का नाम देखने में आता है। यथा सूर्य्यवंश १२ प्रकार, चन्द्रवंश १२ प्रकार, अग्निवंश ४ प्रकार और ऋषिवंश ८ प्रकार का है। इनके उपरांत कामधेनुवंश के भी कईएक क्षत्रिय हैं। अबकी बार सूर्य्यवंश का विस्तार ही प्रकाशित होता है। यथा कविवरों ने लिखाहैः—

" प्रथमैंवरनोंभानुकुलद्वादशकुरीप्रचार ।
भिन्नभिन्नतेहिप्रगटकरिश्रुतिसिद्धान्तविचार ॥
सूर्य्यनृपतिके पंचसुत भार्य्या भई समान ।
तिनको नाम अब कहतहों बिलग बिलग परिमान ॥
प्रथम भार्य्या छज्या भई दुतिया छाया नाम ।
विश्वकर्म्माकी सुता वे गुणनिधान सुखधाम ॥
छज्याजीके तीनिसुत निजकुल विदित विलास ।
छायाके भय पुत्रदुइ कन्या एक प्रकास ॥
प्रथम पुत्र जमराजभो दूजे शनिनृपराज ।
कन्या पुन्यवती भई जमुना प्रियजदुराज ॥

छज्याजीके सुतनको वर्णन करों विशेखि ।
नाम वंश कुल जाति सब श्रुतिपुराणसबलेखि ।
सरासदेवभो प्रथमसुत मांझिल देवग्रहान ।
छोटी पूरनजायजी जानत सकल जहान ॥
ग्रहानदेवके पुत्र भे नृप अघवाक प्रतच्छ ।
तिनको सुत विकच्छभो तासु अनिन सपच्छ ॥
नृप अनिनके पुत्रभो पृथुराजासमरत्थ ॥
ताकौ सुत विशगंधभो तासुत चन्द्र समरत्थ ॥
चन्द्रनृपतिके तनय भो नृपडंडास दयाल ।
ताको सुत प्रगटतभयो विदित विश्व धुँधपाल ॥
धुंधपालनृप को तनय राजा हरजसनाम ।
तिन के सुत हरहथभए राजकाज सुखधाम ॥
राजाहरहथ कें भये नृप निकुंभसुखरास ।
तिन के कुलप्रगटत भये विदित नृपति वरुनास ॥
नृपवरुनासके तनय भो जोबनास्य भूपाल ।
तासुतनय भोचक्कवै मांधाता कुलपाल ॥
मान्धाता को बिदितसुत नृप परकच्छ कराल ।
तिनको तनय त्रिशंकु नृप तासुत अरन नृपाल ॥
अरन नृपति के तनय भो तारावन्धन नाम ।
तासुतनय नृप संत भो विदित सकलगुणधाम ॥
सन्तनृपति को प्रगट सुत नृप हरिचन्द कुलीन ।
तासुत नृप रोहितास भो पिता पुत्र मनलीन ॥

जिन्ह जग में कीरति कियो सकल सुजस मख दान।
परवत ऊपर गढ़रचेउ जानत सकल जहान ॥
नृपरोहितास के सुअन भो वज्रदमन नृपनाम।
तिनको सुत नृप विजय भो कियो प्रमारथ काम॥
विजय नृपति के प्रगटसुत भारिष पर्म्मभुपाल।
भारिषको सुत बाहुक विदित लोककुलपाल ॥
नृपबाहुकको तनय भो राजा सगरनरेश।
तेज बाहुबल सुभट अति निजकुल कमलदिनेश॥
भार्य्या द्वय नृप सगरकी रोमवति सोमवति नाम।
तिनके सुअन अनेक भे मायाको परिनाम ॥
साठिसहससुत सोमवतिहिं रोमवति कहँ भो एक।
नाम एकको कहतहौं असमन नृपति विवेक ॥
नृप असमनकें प्रगटसुत नृप असमान प्रकास।
पंचाजीवन तासुसुत विदित शत्रुकुलनास ॥
पंचाजीवनके तनय भयेउ दलीप प्रचंड।
तासु तनय भागीरथ भो तेजपुंज भुजदंड ॥
भागीरथ नृपको तनय भयेउ सुरथ नृपसूर।
अठवाँ मनु बरबस भयो लोकविदित भरिपूर॥
यज्ञ कियो चंडिहि सुमिर अमित रिषेश्वरसाथ।
तासु तनय सहदीप नृप वेद विदित गुणगाथ ॥
नृपसहदीपको तनय नृप प्रगटेउ आइ ताप।
तिनको तनय ककुस्त भो निशदिन चण्डीजाप ॥

नृपककुस्त कहँ जन्मेउ रुतपूरन नृपवीर ।
तासुतनय नृप अम्बरिषि कुलपालन रनधीर ॥
अम्बरिषी के तनय भो नृपमलकच्छ सुजान ।
तासुपुत्र षड़ंगनृप भुजबल तेजनिधान ॥
नृप षड़ंग के पुत्र भो दुर्गबाहु नृप शूर ।
महाबाहु ताके तनय, यज्ञकियो भरिपूर ॥
महाबाहु को तनय रघु, दूसरभयेउ रघोष ।
नृप रघोष ते राठउर, क्षत्री भौ निर्दोष ॥
रघुराजा को तनय भौ, अमर भीम सुखधाम ।
तासुतनय नृप अज भयो, तासुत दशरथनाम ॥
नृप दशरथ के चारिसुत, भार्य्यामहिषीतीनि ।
बिलग बिलग तिन को कहों,श्रुति पुराण महँबीनि ॥
जेठी भार्य्या कौशिला, मांझिल केकईरानि ।
छोटीभई सुमित्रा, सकल सुखद गुणखानि ॥
कौशिल्या के रामसुत, भरत केकई मातु ।
सौमित्रा के तनयद्वय, लछमन शत्रुहनातु ॥
राजा राम के तनय द्वय, लव कुश नृपति सुजान ।
लव ते छत्री प्रगटेउ, नृप लोहथम्भ परमान ॥
यहि वरवंशतेअवतरे, छत्रीरानावीर ।
हिन्दूपति सिर मौर भौ, षड्डादान रनधीर ॥
छोटे कुश नृपते भए, छत्रीशूर कछवाह ।
जातिधर्म्म निसदिन करहिं, रिपुरनजीत प्रवाह ॥

द्वितीय भाय्यांते भये, रघुवंशी अवतार।
कुश को वंश प्रकाशयति, रामचन्द्र को बार ॥
भरत नृपति के तनयद्वय, पुहकर औ नृप तच्छ।
नेतिपाल रिपुसाल अति, निजकुलकमल प्रतच्छ ॥
पुनि नृप तच्छके प्रगटेउ कंतिपयवर छत्रेश।
नीति सनातन धर्म्म जस, पालहिं आदिनरेश ॥
नृपलछिमन के पुत्र दुइ, जेठे नृप देवसेन।
छोटे चन्द्रसेन नृप, निजकुल को सुखदेन ॥
जेठे नृप देवसेनते, छत्री भयउ बघेल ।
चन्द्रसेन लघु बन्धुतें, कावा भएउ अपेल ॥
नृपशत्रुघ्नते प्रगटेउ, द्वैसुतपरम कराल।
जेठौ नृप सोनभद्र भौ, छोटौ पलकनिहाल ॥
नृप सोनभद्र के वंश में, छत्री भौ सिरनेत।
छोटे पलकनिहालतें, छत्री निकुंभसचेत ॥
ग्राहनदेव के वंश सभ, वरनेउ विविध प्रकार।
शरासदेव नृप की कथा, सुनहुँ सकल निरधार ॥
शरासदेवते प्रगट भौ, सूर्य्यवंशी वल्लबीर।
छोटे पूरनजायते, पैलवार रनधीर ॥"

वर्त्तमान राजकुलों में मिवार अधिपति का कुल सर्वोत्तम समझा जाता है, यह वंश अयोध्याधिपति श्रीभगवान् रामचन्द्रजी के ज्येष्ठ पुत्र महाराज लव से निकसा है। इस उत्तम वंश के इतने सन्मान का कारण यही है, कि आर्य्य-

राजकुलविनाशक यवन-साम्राज्य के समय में शत शत विपदों को झेलकर भी इस सद्वंश ने अपने धर्म्म की रक्षा की थी। जैसे दावानल प्रज्वलित होने से बन में एक वृक्ष, एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा और क्रमशः उस बन के समस्त वृक्ष दग्ध होजाते हैं इसी प्रकार जब यवनपीड़न के समय कोटि कोटि हिन्दू राजकुल नष्ट भ्रष्ट और छिन्न भिन्न होगये थे, उस घोर आपत्तिकाल में भी इस कुल के प्रातःस्मरणीय राजागणों ने असह्य दुःखों को भोग कर भी अपने धर्म्म की रक्षा की थी। जब मुग़ल सम्राट्गणों के कुहकजाल में पड़ के बहुत से सद्वंशोद्भव नृपति गणों ने अपनी अपनी कन्याएँ यवनराजाओं को समर्पण कर अपने उज्ज्वल और पवित्र कुलों को कलंकित किया था, उस समय जिन जिन धर्म्मवीर राजाओं ने इस घृणित कार्य से अपने कुलों को बचाया था उन में से मिवाराधिपतिगण ही अग्रगण्य हैं। इस पवित्र वंश का गर्व खर्व करने के लिये यवन सम्राटों ने बड़े बड़े उद्यम किये, अनेकानेक उपाय रचे, परन्तु आर्य्य-जाति की यह न्यून श्लाघा का कारण नहीं है कि यवनों का प्रताप अधिक होनेपर भी महाराणावंश के धर्म्म-तेज के सन्मुख यवनों के सहस्रों उपायों में से एक भी कार्य्यकारी न होसका। अधिक क्या लिखा जाय जिन जिन हिन्दूराजाओंने ऐसे कलंक अपने वंश में लगालिये थे मिवार अधीश्वरों ने उनको धर्म्म-शिक्षा देने के अर्थ उन से वैवाहिक-सम्बन्धादि करना भी छोड़दिया था! धन्य है ऐसे राज-कुल को!!

श्रीभगवान् महाराज रामचन्द्रजी से पिचहत्तरवीं ७५ पीढ़ी में श्रीमहाराजा बप्पारावल हुए, जिन्हों ने अपने बाहु-बल से प्रसिद्ध चित्तौड़गढ़ अधिकार कर राज्य स्थापन

किया; और उन्हीं महापुरुष से इस पवित्र राजवंश का प्रकाश हुआ। श्री महाराजा बप्पारावल के पूर्वपुरुषगण पहले महाराज लव की प्रतिष्ठित लाहौर नगरी(लवकोट) के अधीश्वर थे, कालान्तर में उस स्थान को छोड़ सौराष्ट्र देश में जा बसे कि जहां प्रसिद्ध सोमनाथ महादेवजी का मंदिर है। और प्रथम बीरनगर, अनन्तर विजयपुर; पश्चात बल्लभीपुर, आदि नगर स्थापन कर उस प्रदेश में अपना राज्य विस्तार करते रहे। किसी किसी कवि–ग्रन्थ और भूमि-स्थित ताम्रपत्रादि से यह भलीभांति प्रमाणित होताहै कि इन नृपतियों ने किसी समय दक्षिणावर्त्त में बड़ी ही प्रतिष्ठा पाई थी। महाराजा बप्पारावल से पूर्वतन आठ पीढ़ी के राजागण वनवेष्टित ईदर प्रदेशका शासन करते रहे, इस प्रदेश को उन्होंने भीलों को पराजय कर ग्रहण किया था। बहुत दिनोंतक यह पर्वती जाति इस राजवंश के आधीन रही, परन्तु समय पाय प्रबल हो उसने अपने नृपति महाराजा नागादित्य को बधकर स्वाधीन होगई॥

यह तो सदा की ही रीति है कि जब जब राजाओं पर विपत्ति आन पड़ती है तब तब ब्राह्मणगण ही उनके सदुपदेशक और सहायकर्त्ता रहे हैं। इस पवित्र वंश की भी रक्षा ब्राह्मणों ने ही की थी। जब भील प्रजाओं ने राजविद्रोहकर महाराजा नागादित्य को मार डाला, और इसी विपत्ति में राजवंश के अधिकांश लोग मारे गये; उस समय महाराजा नागादित्य का एकमात्र पुत्र, इस श्रेष्ठ वंश का एकमात्र वंशतन्तु बालक बप्पा ही बच रहा था। बालक बप्पा की अवस्था उस समय केवल तीन वर्षकी थी। यदि इसकी उसके कुल–पुरोहित ब्राह्मणगण रक्षा न करते तो अवश्य ही इस वंश का नाश होजाता। पुरोहितगणोंने

जब विचारा कि महाराजा हनन होचुके और राजवंश नाश होरहाहै, तब वे बालक बप्पा को छिपाकर राजधानी से भाग चले, और प्रथम भांडीर दुर्ग में जाछिपे । परन्तु जब देखा कि वहां भी राजविद्रोही पहुंच सकते हैं तो वे वहांसे भी भाग पराशर नाम महा अरण्य में चले गये, यह वन उदयपुर से उत्तर की ओर पांच कोस पर स्थित था; अब भी वहां इन ऐतिहासिक विषयों का कुछ कुछ प्रमाण पाया जाता है । कविगणों ने इस वन की और निकटवर्ती पर्व्वतों की बड़ी ही शोभा लिखी है । इस दुर्गम वन में बहुतही प्राचीन कालसे "एकलिङ्गदेव" महादेव का मंदिर था; और ऐसा भी प्रमाण होताहै कि इस निर्जन तपोभूमि में कोई कोई अच्छे सिद्ध महात्मा भी वास करते थे । बालक बप्पा ब्राह्मणगणों की रक्षा में इसी निर्जन वनस्थली में प्रतिपालित होने लगा । जितने श्रेष्ठ पुरुषों के इतिहास सुनने और देखने में आते हैं उन सबोंमें ही पाया जाता है कि सब उत्तम पुरुषों की बाललीला भी अद्भुत होती है; उसी प्रकार मिवार-राजवंश के प्रतिष्ठाता इस वीरवर शिशुका भी बाल्यजीवन बड़ाही अद्भुत और चमत्कारों से भरा हुआ है ॥

क्रमशः





राग मालकोश, ताल चौताल ।

संसार सरितामें जीव मीन प्राय ।
धीवर काल हाथ तें कहां तेरो बचाय ॥ १ ॥
रेजीव बुद्धिहीन ! क्यों तू भयो मीन ।
हाय हाय रे दीन, का करिहो उपाय ॥ २ ॥
मनकी उमंग छोर, बुद्धिसे संग जोर ।
सरिता तरंग ओर, दे तन मन बहाय ॥ ३ ॥
चलतू अब शीघ्रगति, जहां भवसरितापति ।
छोड़ "अहं" रे मूढ़मति, गहि (वही) चरन शरन जाय ॥४॥

निगमागम-मण्डली ।



गत त्रिवेणीतीरस्थ महाकुम्भ के मेलेमें धर्म्म के उद्धारार्थ कईएक परोपकारी महात्मागण द्वारा यह मंडली स्थापित हुई है । इस मंडली का मुख्य उद्देश्य और विस्तारित सम्मति कई एकप्रबन्धों द्वारा 'निगमागम-चन्द्रिका' के प्रथम भाग (कलाब्दा ४९९७ के पत्र-संख्या--समूह) में प्रकाशित होचुकी है । नाना प्रकार के साम्प्रदायिक--विरोध द्वारा आजदिन सनातनधर्म्म को बहुतही हानि पहुंचरही है; इसकारण साम्प्रदायिक-विरोधों की शान्ति करके सर्व-जीव-हितकारी सनातनधर्म्म के सार्वभौम रूपक विस्तारार्थ इसकी स्थापना कीगई है । एवं जिन जिन उपायों द्वारा धर्म्मोद्धार की पूर्ण सम्भावना है उन्हीं नियमों का आश्रय ग्रहण करके मंडली की कार्य्य-प्रणाली बनाई गई है । इस रीतिपर मंडली के पांच कार्य्य-विभाग नियत किये गये हैं; यथा (१) साधुसमागम-विभाग (२) मठ और देवालय-संस्कार-विभाग (३) वेद और संस्कृतविद्याप्रचार-विभाग (४) पुस्तकसंरक्षण-विभाग (५) और शास्त्र एवं धर्म्म-कार्य्यप्रचार-विभाग ॥

साधुसमागम--विभाग का लक्ष ।

आर्य्यजनसमाज के प्रधान आश्रय, प्रधान नेता और प्रधान अङ्ग साधुगण हैं । परन्तु वर्तमान देश, काल, पात्र के अनुसार साधु-समाज की बहुत ही अवनति होने के कारण उन की अवनति से धर्म्म-जगत् को बहुत ही हानि पहुँच रही है । विशेषतः कलिकाल-प्रभाव से उन में नाना

सम्प्रदायें होकर धर्म्महानिकारक महान् साम्प्रदायिक-विरोध द्वारा यथार्थ साधुधर्म्म में बहुत ही हानि पहुंच रही है। इस कारण इस कार्य्यविभागद्वारा साधुमंडली में शान्ति-स्थापन, नाना उपायद्वारा उन का उन्नति-साधन, उन में यथार्थ साधुभाव का प्रचार करना और उन में से साम्प्रदायिक-विरोध के नाश करने में यत्न किया जायगा॥

साधुसमागम-विभाग का कार्य्य।

प्राचीन रीति के अनुसार महाकुम्भ के मेले तथा और और नाना तीर्थों के मेलोंपर सब देशीय साधुगण और धार्म्मिक गृहस्थगणों का समागम स्वतःही हुआ करता है; इसी कारण इस सभा के लक्ष-साधनार्थ साधुमंडली तथा धार्म्मिक गृहस्थगणों को एकत्रित करने के लिये कोई विशेष परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। इन्हीं मेलोंपर अवकाश एवं आवश्यकता के अनुसार यह विभाग अपना कार्य्य किया करेगा। बुद्धिमान् और योग्य साधुगणों की एवं सब सम्प्रदायों के आचार्य्यगणों की सहायता से ऐसा यत्न यह विभाग किया करेगा जिस से पारस्परिक साम्प्रदायिक विरोध दूरहोजाय, तथा साधारण साधुसमाज में साधु-वृत्ति दिनप्रतिदिन बढ़तीरहे। अहंकार की धर्म्म वृत्ति यथार्थ में नहीं हो सक्ती; साधुगणों में जितनी अहंकार की न्यूनता होगी उतनाही उन में साधुभावका प्रकाश होता रहेगा; अहंकार से उत्पन्न हुई साम्प्रदायिक-वृत्तियाँ तमोगुणात्मक हैं, किन्तु साधुभाव केवल सत्वगुणात्मक ही होना उचित है; ऐसा यत्न कियाजायगा कि जिस के द्वारा यथार्थ साधुभाव नियमबद्ध होकर सब साधुसम्प्रदायों में प्रचलित होतारहे। गृहस्थगणों के उपकारार्थ भी यह मंडली इन्हीं तीर्थसमागमों में नानाप्रकार से धर्म्म-प्रचार

करने में यत्न करती; रहेगी और आवश्यकता अनुसार उन की नाना देशीय धर्म्म-सभाओं को नानाप्रकार से सहायता करती रहेगी । एवं गृहस्थगणों में वर्ण-विचार से, आश्रम-विचार से और उपासना आदि धर्म्म-मत-विचार से घोर दुःख एवं घोर अधर्म्म-उत्पादक जो साम्प्रदायिक विरोधहै उस के मेटने के लिये भी नानाप्रकार से उपदेश द्वारा यह मंडली चेष्टा करेगी । इत्यादि ॥

साधुसमागम-विभाग के नियम ।

इस विभाग के चलाने के अर्थ कार्य्यकारी सभ्यगण तथा धार्मिक गृहस्थगणों की युक्तिद्वारा वर्तमान देश, काल-पात्र के अनुसार नियम घटित किये जावेंगे; और हरिद्वार-कुम्भ,प्रयाग-कुम्भ,गोदावरी-कुम्भ एवं उज्जैन-कुम्भ के साधु-समागम के समय प्रधान प्रधान आचार्य्यगणों की सहा, यता से उन नियमों का संशोधन होता रहेगा ॥

गृहस्थगणों के सम्बन्ध में जो जो नियम नियत किये जावेंगे उन का परिवर्तन व संस्थापन आदि कार्य्य नाना प्रदेशीय धर्म्म-सभा, नाना साम्प्रदायिक-सभा (जातीय-कान्फ़्रेन्स यथा वैश्य-कान्फ़्रेन्स, कायस्थ-कान्फ़्रेन्स, क्षत्रिय-कान्फ़्रेन्स, और नाना ब्राह्मण-कान्फ़्रेन्स आदि), और प्रति-ष्ठित गृहस्थगणों की सहायता व सम्मतिसे किये जांयगे ॥

देवालय और मठसंस्कार-विभाग का लक्ष ।

प्रजा की विद्या और धर्म्महीनता और विदेशीय राजा की विदेशीय शासन-प्रणाली के कारण सहायता व शासन केअभाव से भारतवर्ष के सब प्रदेशों के देवालय और मठ-समूह दिन प्रतिदिन नष्ट, भ्रष्ट, जीर्ण और श्रीहीन होते चले जाते हैं । तीर्थों के बड़े बड़े देवालय-समूह से लेकर

सकल ग्राम्यदेवमंदिर तक, एवं साधुगणों की नाना सम्प्रदायों के नाना मठ–समूह सब ही दिन प्रतिदिन हीनता को प्राप्त हो रहे हैं। इस समय में यदि हिन्दू-समाज इस कार्य्य में उपेक्षा करे तो अवश्य करके कुछ दिनों में अपने धर्म्मस्थानों की बहुत ही हानि होजायगी। विशेषतः अदूरदर्शिता के कारण आजदिन कोई कोई नवीन शिक्षित विद्वान्गण यह पुरुषार्थ कर रहे हैं कि जिस से भारतीय गवर्नमेन्ट ऐसे धर्म्म–स्थानों में हस्ताक्षेप करें; इस कारण से भी अब आर्य्य(हिन्दू)समाज को इस विषय में निश्चिन्त रहना उचित नहीं है। अपना कार्य्य आप से ही ठीक हो सकता है; इस कारण साधु एवं गृहस्थगण मिलकर अब ऐसे भारत-हितकारी कार्य में अग्रसर होवें यही युक्तियुक्त है॥

देवालय और मठसंस्कार--विभाग का कार्य्य।

किस रीति पर कार्य्य आरम्भ करने से इस विभाग का कार्य्य भलीभाँति चल सकता है उस का ठीक ठीक विचार करना कुछ कठिन है, और ऐसे विचार करने में सर्वसाधारण की सम्मति भी प्रयोजनीय होगी। परन्तु संक्षेपतः यही कहा जा सकता है कि यह विभाग सब सम्प्रदाय के साधु–मण्डली के आचार्य्यगणों की सहायता व युक्ति से, एवं सद्गृहस्थगणों एवं विद्वान्गणों की सहायता से इस प्रकार यत्न करेगा जिसमें कार्य्य की सफलता हो। भारतीय स्वाधीन राजागणों के राज्य में जो देवालय, मठ आदि हैं उनकी रक्षा उन राजागणों की एकमात्र सहायता से ही होसकती है; उसके कारण यह विभाग उन नरपतिगणों की सहायता ग्रहण करने में यत्न करेगा। एवं समदर्शी भारत–गवर्नमेन्ट के राज्यमें जो देवालय,

मठादि हैं उनकी रक्षा साम्प्रदायिक-आचार्य्यगण व गृहस्थ-पंचायतोंकी सहायता से करने में चेष्टा करेगा। जीर्ण-मन्दिर व मठों का संस्कार, प्राचीन मन्दिर व मठों की वृत्ति की रक्षा, इनके पारस्परिक विरोध का नाश, इनमें सदाचार का प्रचार, एवं जीर्णोद्धार आदि ही इस विभागका प्रधान लक्ष रहेगा । जिस प्रकार की शक्ति एवं सहायता की वृद्धि होती जायगी उतने ही कार्य्य-विस्तार द्वारा यह विभाग समय समय पर नूतन नियम-गठन द्वारा अपने लक्षसाधन करने में अग्रसर होता रहेगा ॥

वेद और संस्कृतविद्याप्रचार--विभाग का लक्ष ।

कालमाहात्म्यके कारण अविद्या के अङ्गों का प्रचार भारतवर्ष के सब वर्ण व आश्रमों के मध्य दिनपर दिन अधिक फैलताजाता है । केवल सद्विद्या और सदाचार के प्रचार से ही इस विपरीत श्रोत का निराकरण होसक्ता है। यह मंडली नाना प्रकार से सद्विद्या के प्रचार करने में यत्न किया करेगी, समय समय पर देश, काल, पात्र के अनुसार जैसे जैसे उपाय युक्तियुक्त समझे जावेंगे सो किये जांयगे; और इस विषय में यह मंडली सदा योग्यपुरुषों की सम्मति लेती रहेगी । प्रथम में यह मंडली अपने इस विभाग के लक्षसाधनार्थ भारतवर्ष के नाना प्रदेशों में ब्राह्मण व साधुगणों की शिक्षार्थ मठ स्थापन करेगी । एवं सब से प्रथम एक "विश्वविद्यालय" स्थापन करके कार्य्य आरम्भ करेगी ॥

नईरीतिके अनुसार आर्यबालकोंकी शिक्षाकी आवश्यकता ।

आर्य्य-सन्तानों में जिसप्रकार से आजकल शिक्षा हुआ करती है उससे दिनप्रतिदिन आर्य्य-समाज में स्वार्थपरता की वृद्धि होती जातीहै; अर्थात आर्य्य-सन्तानगणों की

दृष्टि शरीर-सम्बन्धीय व्यापारों पर ही बढ़ती जाती है, और उन में से धर्म्मभाव, कर्त्तव्यज्ञान का नाश होता जाता है; जबतक सदाचार एवं धर्म्म-शिक्षा की वृद्धि उन में न होगी तबतक कदापि आर्य्यजाति की उन्नति होना असम्भवहै। बालकों को जिस प्रकार से आजकल पढ़ायाजाता है उस प्रकार के अभ्यास द्वारा वे कदापि सदाचार व धर्म्म-शिक्षामें उन्नत नहीं होसकेंगे; प्राचीन शैलीके अनुसार दिनरात एकान्त स्थान में सद्गुरु के निकट रहकर विद्याभ्यास करनेपर ही यथार्थ में सद्विद्याकी प्राप्ति होसकती है। विशेषतः आजकल केवल मुख से जो "धर्म्म" "धर्म्म" कहनेकी रीति प्रचलित होती जाती है वैसे वाचनिक धर्म्म से भारत का कल्याण होना असम्भव है; जब तक धर्म्म-साधन पर भारतवासियों की रुचि नहीं बढ़ेगी तब तक वे कदापि उन्नति को प्राप्त नहीं होंगे; इसी प्रकार के नाना विचार द्वारा यही सिद्धान्त किया जासकता है कि आर्य्य-जातिमें नूतनशिक्षाप्रणाली प्रचलित होना उचित है। * आर्य्य-समाज के प्रधान आश्रय और नेता ब्राह्मण गण और साधुगण हैं; इस कारण समाज हितकारियों को प्रथम ब्राह्मण बालकों की शिक्षापर दृष्टि डालनाही कर्त्तव्य है। द्वितीयतः वर्त्तमान देश, काल, पात्रके कारण आजकल अविधि पूर्व्वक बालकपन में ही जनगण साधुभेष को धारण कर लिया करते हैं; और इससे वे उभय आश्रम भ्रष्ट होजाया करते हैं; सम्प्रदाय विरोधका कुछभी विचार न करके यदि ऐसे साधुबालकों की सतशिक्षाका प्रबन्ध किया जाय तोभी आर्य्य समाज का विशेष उपकार होगा इस में सन्देह नहीं।

---

* (नोट) इस प्रबन्ध में आर्य्यसमाज का अर्थ हिन्दू-समाज से है स्वामी दयानन्द संस्थापित "आर्यसमाज" से पाठक न समझें।

नवीन शिक्षा-प्रणाली के प्रचार म प्रधान आवश्यकता यह है कि आज दिन जो दो प्रकार की संस्कृत-विद्या-अभ्यास-शैली (एक पुराने ढंगपर और दूसरी स्कूलों की पढ़ाई के ढंगपर) प्रचलित हो रही हैं वे दोनों ही असम्पूर्ण हैं इस में सब विद्वान्‌गण ही एकमत होते ह। प्राचीन शैली द्वारा तो एक अथवा दो शास्त्र में ही बोध होजाता है परन्तु विद्यार्थी को एकदेशीय बोध होने के कारण वैदिक-धर्म्म का सर्वदेशीय ज्ञान सर्वथा नहीं होता । और नवीन शैली के अनुसार विद्यार्थी को न तो किसी एक शास्त्र में पूर्ण ज्ञान ही होता है, न सर्वदेशीय विज्ञता की प्राप्ति होती है और न उन को यथावत् धर्म्मज्ञान की शिक्षा होती है। प्रत्युत सदाचार की पूर्णता, धर्म्मज्ञान की पूर्णता और वर्तमान देश काल और पात्र अनुसार अभिज्ञता का तो दोनों में ही पूर्ण अभाव है इस कारण आवश्यकीय नवीन रीति निकाल कर भारतवर्ष के किसी एक प्रधानस्थान में एक संस्कृत विश्वविद्यालय (यूनीवर्सिटी-कालेज) स्थापन करने की इच्छा इस मंडलीने की है। प्रथम उस प्रधान स्थान में नियमित कार्य्य आरम्भ कर के तदूपश्चात् क्रमशः सकल प्रदेशों में कार्य्य विस्तार किया जायगा ॥

शिक्षामठ स्थापन करनेके प्रधानप्रधान नियम एवं शिक्षाकी संक्षेप प्रणाली।

(क) प्रथम एक स्थान में एक विश्वविद्यालय स्थापन करके, तदूपश्चात् जब शिक्षाकार्य्य चलनिकले और सहायताका भी संग्रह होजाय तब भारतवर्ष के प्रत्येक मंडल (प्राभिन्स) के एक एक प्रधान स्थान में एक एक शिक्षामठ स्थापन किया जायगा; यह मठ तीर्थस्थानों में स्थापन किये

जांय ऐसा यत्न कियाजायगा। (ख) मठों में विद्वान्, सदाचारी एवं धर्म्मज्ञ आचार्य्यगण अध्यापना कार्य्य के लिये नियत किये जांयगे। (ग) ब्राह्मणगण प्रायः ही अर्थहीन हुआकरते हैं, द्वितीयतः निर्धन बालकही विद्याऽभ्यास में यत्न करसक्ते हैं; इसकारण ब्राह्मण और साधु बालकों के निमित्त इन मठों में भोजन और वस्त्र आदि का प्रबन्ध भले प्रकार किया जायगा। (घ) मठ नगर के प्रान्तभाग अथवा एकान्तस्थान में स्थापन किये जांयेंगे। (ङ) स्थानीय तथा विदेशीय उपयुक्त तत्त्वावधारक गण नियमितरूपेण इन मठों की सम्हाल करते रहेंगे। (च) मठ में देवमन्दिर, कूपादिजलाशय, विशाल पठनगृह, पुस्तकालय आदि आवश्यकीय स्थान रहेंगे। (छ) पाठशाला में प्रधान शिक्षा धर्म्म की दी जायगी। (ज) साधुबालक गणों को केवल धर्म्म–साधन की ओर अधिक आकृष्ट किया जायगा; परन्तु ब्राह्मण बालकों को नाना प्रकार की विद्या–शिक्षाद्वारा वर्तमान देशकाल उपयोगी उपयुक्त करने में यत्न किया जायगा। (झ) गणित, भूगोल, व्याकरण, साहित्य, वेदका कुछ अंश, दर्शनों का कुछ संग्रह, ज्योतिष, वैदिक, इतिहास का संग्रह, कुछ पदार्थविद्या आदि विविध शास्त्रों का सारांश सिखाया जायगा; जिससे बालकगण वर्तमान समयके अनुसार थोड़ेही दिनोंमें योग्य और बहुदर्शी होजावें। (ञ) निम्न श्रेणी में भाषा की सहायता से योग्यता सम्पादन की चेष्टा की जायगी, परन्तु श्रेणी में संस्कृतका अभ्यास अधिक रक्खा जायगा। (ट) शारीरिक परिश्रम भी बालकों से कराया जायगा; परन्तु वह प्राचीन शैली पर होगा यथा पुष्पचयन, प्रदक्षिणा व योगमुद्रासाधन आदि। (ठ) निगमागम–मण्डली की ओर

से ही पुस्तक रचित व मुद्रित होकर इन मठोंमें पढ़ाई जांयगीं; वह पुस्तक बहुदर्शी विद्वान्‌गण द्वारा संग्रहीत होकर इस कार्य्य के लिये नियत की जांयगीं; यह कार्य्य सब से कठिन है इसकारण बहुत ही सावधानता से देश, काल और पात्र का विचार करके किया जायगा । (ड) शिक्षा द्वारा ब्राह्मण बालकों को इस योग्य कर दिया जायगा कि वे अपना निर्वाह सुखपूर्व्वक कर सकें, और ब्राह्मण-वृत्तिद्वारा संसार की सहायता करें । (ढ) पुस्तक की शिक्षा के अतिरिक्त उन को नाना प्रकार के क्रिया-सिद्धान्तों की शिक्षा भी दी जायगी, यथा कुछ आध्यात्मिक शिक्षा अर्थात् भगवत्-भजन की कुछ विधि, सन्ध्यावन्दन आदि की क्रिया, श्राद्ध यज्ञोपवीत विवाह अन्त्येष्टि-क्रिया आदि की रीति, पंचमहायज्ञ का साधन इत्यादि विषय की भी निम्न श्रेणी में संक्षेप रूप से और उच्च श्रेणी में विस्तार रूप से शिक्षा दी जायगी । (ण) विद्यार्थीगणों का आहार, व्यवहार, वेष, आदि सदाचार सब प्राचीन रीति के अनुसार ही नियत किया जायगा; और सदाचार अभ्यास पर विशेष लक्ष रक्खा जायगा । (त) अर्थ सहित वेद की शिक्षा एवं गायनविद्या द्वारा वेदपाठ करने का प्रबन्ध करने में यत्न किया जायगा । एवं जिस से मध्य-श्रेणी के विद्यार्थीगण वैदिक-कर्म्मकांड की कुछ शिक्षा पासकें और उच्च श्रेणी के विद्यार्थीगण वेदार्थ समझने में कुशल होजायँ ऐसा प्रयत्न किया जायगा । (थ) दर्शन-शास्त्र समूह सनातनधर्म्म के बोधार्थ नेत्र रूप हैं परन्तु वर्त्तमान देश काल के अनुसार उन पर यथावत् भाष्य न मिलने से मनुष्यगण उन को विरुद्ध-मत-संयुक्त मानकर एक दूसरे के विरोधी समझा करते हैं । वर्त्तमान समय के

अनुसार भाष्य-प्रणयन द्वारा उच्च श्रेणी के विद्यार्थीगणोंको एवं मध्यम श्रेणी के विद्यार्थीगणों को सर्व दर्शनों का भावार्थ शिक्षित किया जायगा। एवं निम्न श्रेणी में भी इस प्रकार के दार्शनिक ज्ञान की साधारण शिक्षा दीजायगी जिस से वे भी भविष्यत् में विचलित न होसकें। (द) वर्तमान देश काल के अनुसार जिस से उपयुक्त आचार्य्य, उपयुक्त धर्म्म उपदेशक, उपयुक्त पुरोहित एवं सदाचारी ब्राह्मण होसकें इस प्रकार की शिक्षा देकर विद्यार्थी शिक्षित किये जांयगे। (ध) प्रधानतः अभी ब्राह्मणगणों की ही शिक्षा आरम्भ कीजायगी; और गौण रूपेण बालक साधु व अन्य वर्ण अर्थात् द्विजों के बालकों की भी शिक्षा होसकेगी॥

ग्रन्थ-संग्रह विभाग का लक्ष।

सद्ग्रन्थ समूह ही धर्म्ममात्र के अवलम्बन हैं; विशेषतः आजकल इस कलिकालमें, इस आर्य्य ऋषिगणों के तिरोभाव के समय में प्राचीन ग्रन्थसमूह ही आर्य्य-जाति का एकमात्र अवलम्बन हो रहा है; इस कारण प्राचीन ग्रन्थ-समूहों का संग्रह होना अवश्य कर्त्तव्य है। यदिच भारतीय गवर्नमेन्ट अपनी उदारता द्वारा प्राचीन ग्रन्थ-संग्रह में कुछ कुछ यत्न किया करती है परन्तु वह यत्न पूर्ण फलदायक नहीं है। अब भी अगण्य ग्रन्थरत्न लुप्त अवस्था में हैं; इस कारण यत्नपूर्वक उन के संग्रह करने से आर्य्य-जाति का बहुत ही उपकार होगा इस में सन्देह नहीं। अन्यथा रहे सहे ग्रन्थ भी लोप होते जांयगे॥

ग्रन्थ-संग्रह विभाग का कार्य्य।

यह विभाग ऐसा यत्न करेगा कि जिस से अप्रकाशित सद्ग्रन्थ-समूह एकत्रित होकर भारत के किसी एक स्थान में संग्रह किये जायें। साधुगण देश-भ्रमण किया ही

करते हैं इस कारण उन को कुछ स्वतंत्र प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होगी; "निगमागम-मंडली" के सहायक साधुगण नानास्थान-भ्रमण करते हुए जिस देश में जो अप्रकाशित पुस्तक पावेंगे उस की प्रतिलिपि कराकर इस विभाग के प्रधान स्थानपर भेजदिया करेंगे। नानास्थानों के राजा महाराजा एवं विद्वान् गणों की सहायता से ऐसा यत्न कियाजायगा जिस से लुप्त और अप्रकाशित ग्रन्थसमूह संगृहीत होकर एकस्थानपर रक्खे जायँ। इस कार्य्य के लिये समय समय पर जो पुरुषार्थ करने की आवश्यकता होगी सो उपयुक्त मनुष्यों की युक्ति से तथा धनवानों की सहायता से यह विभाग सदा यत्न किया करेगा। यह विभाग एक अपना प्रधान पुस्तकालय किसी एक योग्यस्थानपर नियत रक्खेगा। विशेषतः हस्तलिखित पुस्तक कहांकहां हैं उस की एक बृहत् सूची अवश्य प्रणयन होना उचित है। छपेहुए ग्रन्थों का एकत्रित होना कुछ क्लेशसाध्य विषय नहीं है; परन्तु भारतवर्ष के ऐसे शान्ति के दिनों में भी यदि अप्रकाशित, गुप्त और अमूल ग्रन्थ-लिपिसमूहों का कोई एक बृहत्सूची न बना तो ऐसे धर्म्म उद्धारक कार्य्य के लिये पुनः समय कब आवेगा। इस कारण भारतवर्ष के किसी एक स्थान में एक बृहत् पुस्तकालय स्थापन कियाजाय; एवं उसी पुस्तकालय में यथाशक्ति हस्तलिखित पोथियों का संग्रह भी किया जाय। और उसी स्थानपर अप्रकाशित लिपियों के अर्थ एक बृहत्सूची बनाकर रक्खाजाय; यह बृहत्सूचिका-प्रणयन ही इस विभाग का प्रधान कार्य्य समझाजायगा ॥ *

---

* (नोट) महासरस्वतीभंडार के नाम से इटावे नगर के यमुनातीरपर एक पुस्तकालय नियत कियागया है; वहां इस विभाग का कार्य्यआरम्भ होचुका है। इस विभाग की आवश्यकता के विषय में "पुस्तकोद्धार" नामक प्रबन्ध द्रष्टव्य है।

सभाकार्य्य और शास्त्रप्रचार विभाग का लक्ष।

पूर्व्व प्रस्तावपत्र[1] में ही इस विभाग के लक्ष का बहुत कुछ वर्णन कर चुके हैं। जितना शास्त्रों का प्रचार और सद्ग्रन्थों का विस्तार भारत में बढ़ेगा, ज्ञान-उन्नति द्वारा उतनी ही भारत की उन्नति होना सम्भव है। सभा जो जो कुछ कार्य्य करेगी वह सामयिकपत्रद्वारा नियमित रूपेण आर्य्य-समाज में प्रचारित हुआ करेगा; ऐसा यत्न किया-जायगा जिस से सकल प्रदेशों के अधिवासीगणों की सहानुभूति प्राप्त हो। यद्दिच संस्कृतविद्या सनातन-धर्म्मावलम्बी जनगणों ही की विद्या है, तत्रापि वर्तमान देश, काल, पात्र देखते हुए यह असम्भव ही है कि संस्कृत-भाषा पुनः सर्वसाधारण की प्रचलित भाषा हो; इस कारण ग्रन्थसंग्रह-विभागद्वारा संगृहीत अप्रकाशित ग्रन्थसमूह तथा और और नाना आवश्यकीय शास्त्र-ग्रन्थ भाषाभाष्य सहित प्रकाशित किये जायेंगे, और ऐसा यत्न किया जा-यगा कि जिस से यह ग्रन्थसमूह अधिक प्रचारित हों॥

सभाकार्य्य और शास्त्रप्रचार विभाग कार्य्य।

सामयिकपत्र एवं पुस्तक नियमित रूपेण मुद्रित होकर प्रचारित किये जांयगे। धार्मिक और योग्य यन्त्रालयों की सहायता से यह मुद्रणकार्य्य करवाया जायगा; यदि आवश्यकता समझी जाय तो अपनी मंडली की ओर से भी यंत्रालय स्थापन कर के योग्य और धार्मिक मनुष्य नि-यत कर के मुद्रणकार्य्य की व्यवस्था कीजायगी। इस विभा-गकी ओर से भारतवर्ष के सकल प्रधान प्रधान स्थानों में

---

१ यह प्रस्ताव पत्र " निगमागमचान्द्रिका " के प्रथम भाग कलाब्दा ४९९७ में प्रकाशित हो चुका है " भारतीय साधुगण द्वारा एक अति उत्तम भारतहित-कारी-प्रस्ताव " नामक प्रबन्ध द्रष्टव्य है।

योग्य और धार्मिक प्रतिनिधि नियत किये जायेंगे; जिन के निकट मंडली के मुद्रित किये हुए ग्रन्थ-समूह विक्रय व दानार्थ रक्खे जायेंगे। जबतक अर्थ का संग्रह पूर्ण रूपेण न हो तबतक इस विभाग के प्रकाशित ग्रन्थसमूह उचित मूल्य से विक्रय किये जायेंगे,परन्तु अर्थसंग्रह आवश्यकता के अनुसार होजाने पर ऐसा यत्न किया जायगा कि जिससे यह ग्रन्थ-समूह बिना मूल्य सकल प्रदेशों में योग्य पुरुषों को वितरण किये जायें। जैसा जैसा धन-संग्रह होता जायगा उसी के अनुसार ग्रन्थप्रचारकार्य्य-प्रबन्ध बढ़ता जायगा; परन्तु लक्ष यही रहेगा कि सद्ग्रन्थसमूह सरल भाषाभाष्य सहित मुद्रित होकर अधिक रूपेण भारत के सब प्रदेशों में प्रचारित होते रहैं। पुस्तकमुद्रण-कार्य्य आरम्भ हो गया है और नियमित रूपेण यह सर्वोत्तम कार्य्य दिन प्रतिदिन बढ़ता ही रहेगा।

मंडली का कार्य्यस्थल व कार्य्य-व्यवस्था।

यद्पिच मण्डली की कार्य्य-भूमि सम्पूर्ण भारतवर्ष ही है, किन्तु प्रधान कार्य्य निर्वाह के लिये तीर्थश्रेष्ठ उत्तराखंड का कोई एक उपयुक्त स्थान नियत किया जायगा। विश्वविद्यालय का प्रधान स्थान एवं पुस्तक डिपो (Book-Depot) आदि के लिये प्रधान स्थान अभी मथुरापुरी में रखने की सम्मति है, आगे जिस प्रकार सर्वसाधारण की सम्मति होगी वैसा ही होगा जिन को कुछ ज्ञात करने की आवश्यकता हो तो वे "कार्य्याध्यक्ष निगमागम मण्डली बुक डिपो श्रीमथुराजी" इस पतेपर पत्र भेज सकते हैं। मंडली के संरक्षण के अर्थ भारतवर्षीय सनातन धर्म्मावलम्बी योग्य नरपति गण ही नियत किये जांयगे, और कार्य्य

१ "निगमागम सीरीज" का प्रकाश इसी विभाग से हो रहा है।

प्रबन्ध परोपकारी महात्मागण व विद्वान् सद्गृहस्थ गण द्वारा निर्वाह होता रहेगा। मंडली का प्रधान कोष "हिन्दू-सूर्य्य" महाराजाधिराज श्रीमान् महाराणा उदयपुर के धनागार में रहेगा; यदि आवश्यकता हो तो संगृहीत धन और और योग्य एवं धार्म्मिक आर्य्य नरपति गणों के निकट भी रक्खा जायगा। राजा महाराजा व धनाढ्य गृहस्थ-गणों से यह मंडली दो प्रकार से धनसंग्रह करेगी; यथा प्रथम एककालीन दान जिस के द्वारा सभा आवश्यकीय स्थान आदिका कार्य्य करेगी, और द्वितीय मासिक अथवा वात्सरिक दान जिस के द्वारा मंडली का व्यय निर्वाह होगा। मंडली के आयव्यय (जमाख़र्च) का पत्र सभा के सामयिकपत्र में समय समय पर प्रकाशित होता रहेगा; जिस के द्वारा विस्तारित सम्वाद सर्वसाधारण जनगणों को ज्ञात होता रहेगा। श्रीभगवान् मंडली की अभिलाषा पूर्ण करें॥

ओंशान्तिः शान्तिः शान्तिः हरिःओम्।

संस्कृत का प्रचार।

(मुज़फ्फ़रनगर निवासी राय निहालचन्द बहादुर प्रेषित)



१—वेद आदि समस्त धार्मिक पुस्तकें हिन्दुओं की संस्कृत-भाषा में हैं और प्राचीन विद्याओं की पुस्तकों का कोष जो संस्कृत में है वह किसी अन्य भाषा में नहीं है, इसलिये संस्कृत को देववाणी कहते हैं, योरोपवासी जिनका इस भाषा से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है स्वीकार करते हैं

कि संस्कृत से उत्तम तो क्या बरन् उसके तुल्य भी कोई भाषा पृथ्वीपर नहीं है, यही वह पवित्र भाषा है जिस से गुरुमुखी, हिन्दी, बङ्गाली, मरहटी, तैलङ्गी, आदि भाषाऐं निकली हैं जो समस्त भारतवर्ष में बोली जाती हैं ॥

संस्कृत के महत्व का एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि अरबी फ़ारसी, उर्दू, अङ्गरेज़ी, लैटिन्, ग्रीक आदि प्रचलित भाषाओं के अक्षर और लेख ऐसे अपूर्ण हैं कि उन में पूरा पूरा उच्चारण और शुद्ध लेख नहीं होसक्ता, परन्तु संस्कृत में जो लिखा जावेगा ठीक वैसा ही पढ़ाजावेगा ॥

२–जिस समय आर्यावर्त्त का भाग उदय था चारोंवर्ण के पुरुष स्त्री संस्कृत में निपुण होते थे, राजा भोज के समय तक विद्या का अच्छा प्रचार रहा, उसके राज्य में कोई कुपढ़ और मूर्ख न था, तत्पश्चात् समय के हेरफेर से संस्कृत की शिक्षा कम होगई, सिवाय ब्राह्मणों के और वर्णोंने संस्कृत का पढ़ना छोड़दिया, ब्राह्मणों में भी उतनी ही शिक्षा का प्रचार रहगया जिसकेसहारे वे अपना पेट पालन करसकें, इस अज्ञानता का यह फल हुआ कि ब्राह्मण भी धार्मिक नियमों से अज्ञान होगये, शेख़ मुल्ला पीर शहीद आदि जीते मरों केअनुगामी होगये, कहार, माली, भंगी, जोगी आदि (जो शीतला माता आदि के पुजारी होते हैं) पथदर्शक बनगये, जो २ धर्म अपने वर्ण और आश्रम के थे सब छूटगये, नये २ मत और नये २ पन्थ प्रचलित होगये, यही कारण हुआ कि देश में फूट फैलगई, क्योंकि सत्य धर्म से जो एकता का कारण है विश्वास जाता रहा, देशीय सहानुभूति और प्रेम जाता रहा भाई भाई का शत्रु होगया, फिर राज्य का भी स्वाहा होगया; यह सब बातें इतिहास से भली प्रकार प्रकट हैं । देखिये यहां मुस-

लमानी राज्य की जड़ शहाबुद्दीन गोरी से पड़ी थी, यह वही शहाबुद्दीन था जिस को कई वार महाराजा पृथ्वीराज ने मारकर हिन्दुस्थान से बाहर निकाल दिया था, परन्तु राजा जैचन्द के कपट और सहायता से उसने जय प्राप्त की और यहां का राज्य मुसलमानों के हाथ लगा ॥

३–मुसल्मानी राज्य के आरम्भ से ही हिन्दुओं पर नाना प्रकार के अन्याय और अत्याचार होते रहे, हिन्दुओं और उनके बालबच्चों को धन, प्राण तथा उन के धर्म को हर समय भय रहता था, जिस देश में मुसलमानों का राज्य हुआ वहां के रहनेवालों का धर्म जड़मूल से जाता रहा और उन के पुस्तकालय नष्ट होगये, परन्तु यह गौरव हमारे आर्य्यावर्त ही को है कि यद्यपि यहां मुसलमानों का ६०० वर्ष तक राज्य रहा और हर प्रकार के दुःख और कष्ट इन्होंने पहुंचाये तथापि हमारे पुरुषा अचल रहे और अपने पवित्र धर्म को अटल रक्खा। यद्यपि बहुत सी बातों में ब्राह्मणों से महान् भूल और असावधानी तथा स्वार्थता प्रगट हुई परन्तु कुछ सन्देह नहीं है कि यह काम उन्ही महात्माओं और शूरवीरों का था कि विद्या और संस्कृत की पुस्तकों की यथोचित रक्षा कर हम तक पहुंचादी, हम को उन का सदैव कोटानिकोटि धन्यवाद देना चाहिये, फिर समय के अनुसार यदि संस्कृत शिक्षा में और भी अवनति हुई तो क्या आश्चर्य है ॥

४–अब प्रश्न यह है कि हिन्दू कैसे उन्नति कर सकते हैं? इस का उत्तर यही होगा कि विद्या से। दूसरा प्रश्न यह होता है कि किस भाषामें शिक्षा देनी चाहिये? इस प्रश्न का उत्तर तनिक कठिन और विचार योग्य है, बहुधा जन कहते हैं कि केवल अंग्रेज़ी में ही शिक्षा देनी चाहिये, और

बहुतों की यह सम्मति है कि अपनी मातृभाषा ही में शिक्षा होनी चाहिये; कुछ सन्देह नहीं है कि राज्यभाषा होने से अंग्रेज़ी में अन्य भाषाओं की अपेक्षा बहुत कुछ विद्या की पुस्तकें उपस्थित हैं और जिन लोगोंने अंग्रेज़ी में शिक्षा पाई है उन को इस से बहुत कुछ लाभ हुआ है परन्तु इसी के साथ यह स्वीकार करना पड़ता है कि ऐसे उच्च शिक्षित जनों की संख्या बहुत थोड़ी है कदाचित् सहस्र पीछे एक भी न हो, परन्तु इस के विपरीत ऐसे मनुष्य अधिक हैं जिन्होंने अंग्रेज़ी पढ़ना आरम्भ किया और अपने जीवन का बहुमूल्य भाग उस की प्राप्ति में लगाया पर किसी न किसी कारण से अधूरे रहगये, पुराने ढंग से कमाना भूल गये और उस से सर्वथा घृणा होगई, और अधूरे रहने के कारण नवीन ढंग से कमाने की योग्यता भी न हुई, बस किसी काम के न रहे, गये दोनों लोक से वह, न इधर के रहे न उधर के हुए ॥

९–ईसाई और मुसलमान अपने लड़कों को सब से पहिले अपनी धर्म्म सम्बधी पुस्तकें पढ़ाते हैं पर हिन्दू ऐसा नहीं करते जिस का यह फल होता है कि हिन्दू विद्यार्थियों का अंग्रेज़ी पढ़कर कि जिस में धार्मिक शिक्षा बिलकुल नहीं दी जाती अपने धर्मपर विश्वास नहीं रहता; इसलिये देश में विद्या फैलाने के लिये आशा नहीं है कि अंग्रेज़ी शिक्षा भरपूर हो सके। हर देश में मातृभाषा से ही विद्या फैल सकती है विदेशी से नहीं; जितना समय केवल अंग्रेज़ी भाषा सीखने में लगता है उस से चौथाई समय और चौथाई परिश्रम में विद्यार्थी मातृभाषा के द्वारा समस्त विद्यायें सीख सकता है, यद्यपि इस समय में देशीय भाषाओं में विद्याओं का कोष पूर्ण नहीं है तथापि यह

दोष सहज में दूर होसकता है, इस लिये अवश्य हुआ कि मातृभाषा ही में शिक्षा दीजाय और जो कि हिन्दुस्थान में इस का निर्भर संस्कृत परही है इसलिये संस्कृत के प्रचार में उद्यत होना चाहिये, अर्थात् जैसा कि आजकल राज-भाषा–अंग्रेज़ी में पुरुषार्थ किया जाता है वैसा ही मातृ-भाषा संस्कृत में करना चाहिये ॥

६–हिन्दू लोग स्वाभाविक दयालु और दानी हैं, कदाचित् यह कहना अनुचित न होगा कि कोई दूसरी जाति इन के समान दानी नहीं है, और विद्योपार्जन में रुपया लगाना सब से मुख्य शास्त्रोक्त दान समझाजाता है, यही कारण है कि काशी मथुरा वृन्दावन अयोध्या हरिद्वार आदि तीर्थों और अन्य नगरों में सैकड़ों हज़ारों पाठशालाऐं उपस्थित हैं जिनमें लाखों रुपया वार्षिक व्यय होता है, परन्तु दोष यह है कि शिक्षा अंडबंड दीजाती है कि जिसके कारण विद्यार्थी का बहुतसा समय व्यर्थ जाता है; और शिक्षा भी ऐसे विषयों में दीजाती है कि विद्यार्थी तथा देशवासियों को रुपया व्यय होने की अपेक्षा लाभ बहुत ही कम होता है ॥

७–स्वाभाविक नियम है कि उन्नति के पश्चात् अवनति और अवनति के पश्चात् उन्नति उसी प्रकार होती है जैसी कि दिन के पश्चात् रात और रात के पश्चात् दिन; एक वह दिन था कि हिन्दुओं का तेज समस्त भूमण्डल के राजाओं की आंख में खटकता था, फिर वह दिन हुआ कि कीर्ति की जगह अपकीर्ति और राज्य की जगह दासत्व प्राप्त हुआ, जो पहले पशु और अज्ञान थे वह राजा बन बैठे, और हिन्दुस्थानी पशु तथा असभ्य कहलाने लगे; परन्तु ईश्वर सर्वशक्तिमान् का कोटानिकोटि धन्यवाद है कि अब

फिर भाग उदय हुआ और यह देश अंगरेज़ों के आधीन हुआ, कि हमारी महारानी राजराजेश्वरी और अंग्रेज़ लोग हमारी उन्नति का उपाय नाना प्रकार से कर रहे हैं और वह स्वाधीनता दी है कि प्रत्येक जन किसी मत वा धर्म का हो अपनी उन्नति में तत्पर है, इसलिये यह सुअवसर हाथ से न देना चाहिये, आलस्य को छोड़ एकता कर कटिबद्ध होजाना चाहिये ॥

८-आप देख रहे हैं कि सर सय्यद अहमदख़ां ने महमिडन अलीगढ़ कालिज,मुहम्मदन एजुकेशनल् कान्फ़्रेन्स और मुहम्मदन डिफ़ेन्स ऐसोसिएशन नियत किये हैं, जिनमें बड़े २ विद्वान् और नीतिज्ञ मुसलमान सम्मिलित हैं; उनका अभिप्राय बाहर से मुसलमानों में शिक्षा फैलाना बतलाया जाता है परन्तु उनकी गुप्त कार्यवाही सब पर विदित है, उसका प्रकट करना इस समय उचित नहीं केवल इतना ही बहुत है कि यदि हिन्दू लोग अबभी सचेत न हुए और अनुचित आक्रमणों से अपनी रक्षा न करेंगे तो अत्यंत हानि उठावैंगे; बुद्धिमान् समझगये होंगे ॥

९-बहुत दिनों से मेरी समझ में इस बात की आवश्यकता थी कि एक सभा संस्कृतोन्नति के अर्थ नियत की जावे, अतएव जुलाई सन् १८९१ के आर्यदर्पण में मैंने एक पत्र भी इस विषय का मुद्रित कराया था, हर्ष की बात है कि ईश्वर की कृपा से उस आवश्यकता को भारतवासियों ने स्वीकार कर लिया, वैश्य-कान्फ्रेन्स तथा कायस्थ-कान्फ्रेन्स में इस विषय पर बहुत कुछ आन्दोलन हुआ और उचित उपाय किये गये, दिसम्बर सन् १८९६ वैश्य कान्फ्रेन्स अजमेर में (कि जिस का मैं वाइस प्रेसीडैन्ट था) निम्न प्रस्ताव स्वीकार हुआ ॥

प्रस्ताव ३—महासभा मथुरा सन् १८९५ के द्वितीय प्रस्तावानुसार यह महासभा सब वैश्य भाइयों का ध्यान संस्कृत और देवनागरी की उन्नति के लिये नीचे लिखी हुई रीतियों के अनुसार दिलाती है—

(क) जो पाठशालाएँ कि वैश्य जाति की तरफ़ से देश में नियत हैं उनके स्वामियों की आज्ञानुसार महासभा की ओर से ऐसे प्रबन्ध किये जांय कि जिन से उन को लाभ पहुंचे और हानियां सब दूर हों ॥

(ख) जो विद्यार्थी अंगरेज़ी शिक्षा पाते हैं वे अपनी द्वितीय भाषा संस्कृत लें, और इस विषय के उत्साह के लिये उन को पारितोषिक और मासिक वेतन दिये जावैं ॥

(ग) जो महाशय संस्कृत या देवनागरी भाषामें सबसाधारण की उपयोगी पुस्तकें बनाकर महासभा में पेश करैं उन को यथाशक्ति महासभा की ओर से इनाम दिया जावे और जहांतक होसके यह पुस्तकें महासभा की ओर से छपवाकर प्रकाशित की जावैं ॥

(च) भाषा और संस्कृत की पुस्तकें जाति सुधार और रीति रक्षाओं के विषयों में छपवा कर वांटी जावें ॥

१०—सन् १८९३ में काशी में "नागरी प्रचारिणी सभा" नियत हुई, जिस के उपप्रधान राय राधाकृष्ण ने थोड़े दिन हुए इस ओर भी भ्रमण कर मुझ को दर्शन दे कृतार्थ किया था, इस सभा के नियम यह हैं—

(१) हिन्दी भाषा की त्रुटियों को दूर करना ॥

(२) हिन्दी भाषा को उत्तम और आवश्यक विषयों के ग्रन्थों से अलंकृत करना ॥

(३) हिन्दी भाषा के प्रचार तथा उचित अधिकार पाने के लिये गवर्नमेन्ट तथा एतद्देशी और परदेशी सज्जनों में उद्योग करना ॥

(४) समय २ पर पारतोषिक देकर लोगों का उत्साह बढ़ाना और ग्रन्थ लिखुता को उद्यत करना ।

(५) यथासम्भव संस्कृत की उन्नति में उद्योग करना ॥

(६) सभा में किसी राजनैतिक वा धर्मसंबन्धी विषयों पर विचार न करना ॥

११-आर्य समाजी महाशय उद्योग कर रहे हैं कि वेदोक्त शिक्षा फैलाई जावे उन के पुरुषार्थ से लाहोर में दयानन्द एङ्गलोवैदिक कालिज उपस्थित है कि जिस के समान कोई और कालिज भारतवर्ष में नहीं है, दूसरा एङ्गलोवैदिक कालिज अभी मेरठ में स्थापित हुआ है ॥

१२-गवर्नमेन्ट अंगरेज़ी ने धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता जानकर आज्ञा देदी है कि जो विद्यार्थी सरकारी मदर्सों और कालिजों में पढ़ते हैं वह धार्मिक शिक्षा पासकते हैं. इस विषयमें डाइरक्टर शिक्षा-विभाग पश्चिमोत्तर देश व अवध का सरक्यूलर यह है-

[सरक्यूलर नम्बर १३. ८ सितम्बर सन् १८९६ ई० धार्मिक शिक्षा विषय]

१-अंगरेज़ी मदर्सों में जो शिक्षा विभाग के आधीन हैं फ़ारसी और संस्कृत पढ़ाने का ऐसा प्रबन्ध किया जायगा कि सप्ताह में दोबार आधे २ घंटे स्कूल के समय में से उन लड़कों को धार्मिक शिक्षा के लिये मिलसकें जिन के मा बाप यह शिक्षा देना चाहें, इस में शर्त यह होगी कि ऐसी शिक्षा चाहनेवाले एक अध्यापक अपनी ओर से नियत करैं और स्कूल में इस काम के लिये कोई फालतू कमरा भी हो, यदि स्कूल वा स्कूल के निकट उचित जगह न होगी और पूरी रकम चन्दे की पेश की जावेगी तो गवर्नमेन्ट स्कूल सम्बन्धी नया कमरा बनवाने का बिचार

करेगी, यह कमरा सरकारी होगा और केवल धर्मशिक्षा के लिये ही अलग न रक्खा जावेगा ॥

(२) शिक्षाविभाग को इस धार्मिकशिक्षा से कुछ प्रयोजन न होगा ॥

(३) धार्मिक-शिक्षा विषय फ़ीस लेने न लेने का अधिकार प्रबन्धकर्ता को होगा ॥

(४) अध्यापक को हाज़री का रजिस्टर रखना होगा जिस को हेडमास्टर देख सकेंगे, आलसी और कामचोर लड़कों के दण्ड के लिये हेडमास्टर से रपोर्ट कीजावेगी ॥

(५) धार्मिक शिक्षा परीक्षा भी प्रबन्धकर्ता के हाथ में रहेगी, हां परीक्षा के फल से हेडमास्टर को सूचित किया जावेगा, हेडमास्टर इस फल को पारितोषिक बांटने के समय जो प्रबन्धकर्त्ता की ओर से होगा जलसे में सुनावेगा, इस के सिवाय हेडमास्टर को कुछ प्रयोजन इस शिक्षा की उन्नति अवनति से न होगा ॥

(६) स्कूल का कोई अध्यापक उस शिक्षा को ग्रहण न कर सकेगा ॥

(७) प्रबन्धकर्ता को ऐसा प्रबन्ध करना होगा जो सर्व साधारण के पसन्द हो ॥

(८) लड़केके मा बाप को धार्मिक शिक्षा दिलाने न दिलाने का अधिकार होगा, जो यह शिक्षा दिलाना चाहें हेडमास्टर को लिखकर सूचित करदें, हेडमास्टर उन को आज्ञा देवेंगे ॥

हस्ताक्षर डब्ल्यु एन बुफिलावर
कायम मुकाम डायरक्टर शिक्षा-
विभाग पश्चिमोत्तर देश व अवध.

१३–उपरोक्त बातों से सिद्ध है कि अब वह समय आ-गया है कि संस्कृत और नागरी भाषा का पूर्ण प्रचार किया जावे और इस समय को हाथ से न दिया जावे, बस उचित है कि सब मिलकर नियमानुसार इस का प्रबन्ध करें और एक सभा ऐसे लोगों की नियत की जावे जो विद्यामान् प्रतिष्ठा आदि के कारण श्रीमणि समझे जाते हों और जिनपर देशवासियों का पूरा विश्वास हो, इस सभा में किसी मत का खंडन मंडन न हो, जो वेद शास्त्रों के अनुयायी हों सब इस में प्रविष्ट होसकें ॥

१४–इस सभा के नियम यह हैं–

(१) जिन २ बातों से जिस प्रकार संस्कृत और नागरी की उन्नति होसके उन को विचार कर प्रचलित करें और वर्त्तमान पाठशालाओं की देखाभाली कीजावे ॥

(२) जो कठिनाइयां कि संस्कृत पढ़ने में जान पड़ती हों उन को दूर किया जावे ॥

(३) विचारा जावे कि कौन विद्यायें संस्कृत वा नागरी द्वारा पढ़ना अधिक लाभदायक हैं ॥

(४) संस्कृत और भाषा में योरोप और एमरीका की वर्त्तमान विद्याओं की पुस्तकों का उल्था करायाजावे ॥

(५) जो विद्यार्थी सरकारी स्कूलों और कालिजों में अङ्गरेज़ी पढ़ते हैं उन को प्रेरणा की जावे कि अङ्गरेज़ी के साथ संस्कृत पढ़ें ॥

(६) वर्त्तमान नियमानुसार गवर्नमेन्ट स्कूलों और कालिजों में धार्मिक–शिक्षा का प्रबन्ध किया जावे ॥

(७) हिन्दुओं की साधारण विद्या और शिक्षा की भली प्रकार देखाभाली की जावे ॥

१५–निम्न बातें विचारनीय हैं–

(१) ऐसी सभा की आवश्यकता है वा नहीं ?

(२) कौंन जगह सभा नियत हो ? (मेरी समझ में आगरा वा बनारस आता है ॥)

(३) उचित है वा नहीं कि " नागरी प्रचारिणी सभा काशी " का नाम " संस्कृत प्रचारणी सभा " रक्खाजावे और उसके वर्त्तमान नियमों को घटा बढ़ा उसकी उन्नति कीजावे ?

(४) आवश्यक व्यय के लिये कितना रुपया वार्षिक लगेगा और रुपये का क्या प्रबन्ध होना चाहिये? मेरी समझ में १२०० रुपये वार्षिक का प्रबन्ध इस प्रकार होना चाहिये कि प्रत्येक सभासद् ६) रु० वार्षिक दे और २०० सभासद नियत हों, इस के अतिरिक्त और फुटकल चन्दा प्रयत्न कर इकट्ठा कियाजावे ॥

१६–यह निवेदनपत्र आप की सेवा में भेजकर प्रार्थना करता हूं कि अपनी २ सुसम्मति से बाधित कीजिये और आप के इष्ट मित्र जो सभासद् होना चाहैं उनका सूचीपत्र भी भेजकर कृतार्थ कीजिये ॥ इति ॥

रायबहादुर सेठ निहालचन्दजी का उत्तम प्रस्ताव बहुतही प्रशंसनीय है, विशेषतः श्रीमान् को ऐसे भारतहितकारीकार्य में अनुसर देखकर, ऐसी धनपात्र व्यक्ति को परोपकार–व्रत में व्रती देखकर कौंन सुविज्ञभारतवासी आनन्द को प्राप्त नहीं होगा । परन्तु रायसाहबने जो केवल संस्कृत–प्रचार पर ही अधिक बल दिया है सो वर्तमान देश काल पात्र के अनुसार उसकी सिद्धि असंभव सी प्रतीत होती है; इस समय वर्त्तमान मातृभाषा (हिन्दीभाषा) के अधिकप्रचार से ही भारत–कल्याण सम्भव प्रतीत होता है ।

सम्पादक ।

रागिनी केदारनट, तालमध्यमान ।

हायरे तामसी मसी भारतमुख ससी लगारत है ।
सदा वह बाढ़तजात भारत को आरत करे डारत है ॥ १ ॥
भारतमाता दिवानिसी, सुमरत पूरबयसरासी ।
करुणस्वरसे रोवत जात हृदयज्वाल बारत है ॥ २ ॥
भारतसन्तान वीर्य्यहीन, अन्न अभावसों तनुछीन ।
मनुखसमाज में दीन हीन है भीखहि भीख पुकारतहै ॥ ३ ॥
हाय जगन्नाथ इन्हें निहारो, तव जेष्ठ पुत्रनके दुःखटारो ।
असहन है यह दुखदाहन छीन हृदय (अब) नाहिं धारतहै ४

रागिनी गारा—भैरवी, ताल झांपताल ।

हम तो बिगारो, अब नाथ सँभारो ।
हम से बुरो जो भयो सो भयो है ॥ १ ॥
दीनन में हम दीन, छीनन में अतिछीन ।
पर दीनदुःखहारी तुम को कह्यो है ॥ २ ॥
कुबुद्धिमें हो रत, जो बालक बिगारत ।
ताके सकल दोख पितुही सह्यो है ॥ ३ ॥
ज होवे सो हो अब, चरन न छोड़व ।
भ्रमसे जो इत काल गयो सो गयो है ॥ ४ ॥

ॐ नमोभगवतेवासुदेवाय ।



वर्षाऋतुः—कलाब्दाः ४९९८.

भाग २	श्रावण एवं भाद्रपदमास.	संख्या ३

श्राद्धतत्त्व ।

शास्त्र में कथित है कि आत्मा के अमरत्व में विश्वास कर परलोक गत पितृगणोंके प्रति श्रद्धापूर्व्वक मंत्रादि द्वारा उन को आवाहन कर उन की तृप्त कामना के अर्थ दधि, दुग्ध, अन्न, मधु आदि उन को अर्पण करने का नाम श्राद्ध है। अब प्रश्न यह है, कि "जब जीवात्मा का पुनर्जन्म होजाता है तब श्राद्धादि किसके लिये करते हैं? और यदि श्राद्ध न किया जाय तो क्या प्रत्यवाय है."?

यदिच जीव स्थूल-देह त्याग करते ही अपने कर्म्मानुसार सत् वा असत् योनि में प्राप्त होजाता है, परन्तु जीव को स्थूल देहान्तर की प्राप्ति तभी होती है जब वर्त्तमान देह-त्याग समय उस की चेतना-शक्ति बनी रहै; क्योंकि प्रायः ऐसा भी होताहै कि जीवों के असत् कर्म्म और साधन अभावके कारण मृत्यु समय उस सूक्ष्म-शरीर को मूर्च्छा आजाती है। शास्त्र में कथित है कि "व्रजन्तिष्ठिन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति, यथा तृणजलौकैवं देही कर्म्मगतिं गतः।" अर्थात् जैसे घासका एक कृमि जिस का नाम तृणजलौका है वह एक पैर से ठहर कर दूसरा तब उठाता है जब आगे के पैर को रखने का स्थान मिल जाय, वैसे ही सूक्ष्म-शरीर-विशिष्ट जीव एक स्थूल-शरीर को तब त्याग करता है जब दूसरे शरीर के उपयोगी स्थान मिलजाय; परन्तु यदि शरीरी का वियोग किसी कारण से एकाएक होजाय, अथवा शरीरी मृत्यु-यंत्रणा से अतिशय क्लेशित होजाय, वा औरमोहादि कारण के वशीभूत होजाय तो उस को शरीर त्याग करते समय मूर्च्छा आजाती है, और वह उस समयतक दूसरे शरीरको प्राप्त नहीं हो सकता जबतक उस की मूर्च्छा न दूरहो; इसी मूर्च्छा का नाम प्रेतत्व है। विधिवत् श्राद्ध करने से जीव की यह मूर्च्छा दूर होजाती है इसकारण श्राद्ध करना आवश्यक है। अब यह शंका उठ सकती है कि जीव के देहपात के समय उस के सूक्ष्म-शरीर को क्यों मूर्च्छा आजाती है ? और इस प्रकार की मूर्च्छा आना सम्भव है वा नहीं? साधारण विचार से ऐसी शंकाओं का निराकरण होसकता है। जिस प्रकार अति उग्र और असहनीय शारीरिक क्लेश उत्पन्न होने से शारीरिककष्ट की अधिकता के कारण स्थूल-शरीर पर मूर्च्छा होजाया करती है, उसी प्रकार से सूक्ष्म

शरीर की मूर्च्छा को भी समझना उचित है। स्थूल-शरीर और सूक्ष्म-शरीर दोनों ही बीज और वृक्ष अर्थात् कारण और कार्य्यरूप से एक ही पदार्थ हैं ! स्थूल-शरीर केवल सूक्ष्म-शरीर का विस्तारमात्र ही है; सूक्ष्म-शरीर में जिस प्रकार की जो जो शक्ति व भाव रहता है वही परिणाम को प्राप्त होकर स्थूल आकार को धारण करके स्थूल-शरीर बन जाया करता है। स्थूल-शरीर रहते भोग स्थूल-शरीर पर ही होता था एवं मूर्च्छा आदि भावान्तरभी स्थूल-शरीर पै ही हुआ करता था; परन्तु मृत्यु के समय जब प्रारब्ध कर्म्म-रूप भावों के क्षय होजाने से सूक्ष्म-शरीर को अन्य स्थूल-शरीर बनाने के लिये पूर्व स्थूल शरीर को छोड़ना पड़ा तो उस समय पूर्वकारण के अभाव होजाने से उस स्थूलशरीर और उस के सूक्ष्मशरीर में स्वतंत्रता होगई और दोंनों का परस्पर सम्बन्ध कार्य्य कारण सम्बन्ध से छूटगया; तत्पश्चात् जीवनीशक्ति कारण अभाव से सूक्ष्मशरीर भावान्तर को प्राप्त होकर पञ्चतत्त्वों में मिलने लगी और वह पूर्व सम्बन्ध युक्त सूक्ष्म-शरीर अपने किये हुए कर्मों के अनुसार भोग समूहों के भोगने के अर्थ अपने भोग उपयोगी दूसरे शरीर को प्राप्त होने लगा। परन्तु इस मध्यवर्त्ती अवस्था में अर्थात् जिस समय पूर्वस्थूलशरीर का तो त्याग होरहा हो एवं दूसरे शरीर के परिणाम को वह सूक्ष्मशरीर न प्राप्त हुआ हो, ऐसी दुविधा की अवस्था में यदि पूर्वापर किसी असहनीय क्लेश का धक्का सूक्ष्मशरीर में लगे तो उस धक्के से वह सूक्ष्मशरीर अवश्य मूर्च्छित होजायगा। स्थूल-शरीर रहते समय क्लेशभोग स्थूल एवं सूक्ष्मशरीर दोंनोंभागों में विस्तृतहोकर कथंचित् रूपेण अपने तीव्रधक्के की लघुता संपादन किया करता था; परन्तु अब दोंनोंशरीरों में पृथक्ता

होजाने के कारण और सूक्ष्मशरीर अकेला रहजाने के कारण वह धक्का अति वेग से एकमात्र सूक्ष्म-शरीर में ही लगा, जिस के द्वारा अति असहनीयक्लेश को प्राप्त हो वह सूक्ष्म-शरीर मूर्च्छित होगया । स्थूल-शरीर का सम्बन्ध सूक्ष्म-शरीर के साथ रहते समय क्लेश का साक्षात् सम्बन्ध स्थूल-शरीर से ही हुआ करता था, इस कारण मूर्च्छा आदि जो परिवर्त्तन होता था वह स्थूल-शरीर में ही हुआ करता था; परन्तु अब इस मृत्यु अवस्था में स्थूल-शरीर रहा ही नहीं एवं उस तीव्र क्लेश का परोक्ष एवं अपरोक्ष दोनों सम्बन्ध एकाएक सूक्ष्म-शरीर से होगये तो कैसे वह सूक्ष्म-शरीर उस क्लेश के धक्के को सह सक्ता है । यदि जीवों के पूर्व पाप-कर्म्म के अनुसार कदाचित् मृत्यु समय ऐसे धक्के लग जावें तब ही जीव के सूक्ष्म-देह की मूर्च्छा होजाती है; इसी मूर्च्छा का नाम प्रेतत्व है ॥

अब यदि यह शंका हो कि काश्यादि तीर्थों में जिन की मृत्यु हुई है, अथवा जो ज्ञानात्मा होकर देह त्याग करते हैं उन के अर्थ पुनः श्राद्ध करने की क्या आवश्यकता है ? प्रथमतः काशीकारण-विज्ञान के विषय में आचार्य्य-गणों के मत अनुसंधान करने की आवश्यकता है । आचार्य्य-गणों की यही सम्मति है कि काशीमरण कुछ मुक्ति प्राप्ति का साक्षात् कारण नहीं हो सक्ता । जिस प्रकार कर्म्म एवं ज्ञान दोनों ही मुक्ति के कारण होनेपर भी, निष्काम-कर्म्म से ज्ञान की प्राप्ति और ज्ञान द्वारा ब्रह्मसद्भाव की प्राप्ति होकर मुक्ति की प्राप्ति हुआ करती है; उसी प्रकार परंप-राय कारण से काशीमरण रूप सत्संस्कार द्वारा सद्गति की प्राप्ति, एवं तत्पश्चात् सद्गति रूप सतलोकों में आत्म-ज्ञान की प्राप्ति द्वारा जीव की मुक्ति हुआ करती है । इस

कारण काशीमरण के अनन्तर जब दूसरा जन्म होना सम्भव है (यदिच उसी दूसरे जन्म में ही उस काशीमृत जीव को ज्ञान की प्राप्ति होसकती है तत्रच दूसरा जन्म अवश्य होताहै) तब श्राद्ध करके अपने पितृगणों को उस दूसरे लोक में तृप्त क्यों न किया जाय। द्वितीयतः काशी माहात्म्य में लेख है कि "प्रथम तो काशी एरंडपत्रवत् है अर्थात् काशीभूमिका कौंनसा स्थल काशी अन्तर्गत और कौंनसा काशी बहिर्भूत है इस का प्रमाण ठीक २ मिलना कठिन है; इस कारण मृत पुरुष काशी में मरा अथवा उस की मृत्यु काशी से बाहिर हुई इस का ही ठीक प्रमाण जब नहीं मिल सकता तब मृत पुरुष की गति हुई वा नहीं हुई इसका निश्चय कैसे हो सकता है ? और जब यह निश्चय नहीं है तब बुद्धिमान् गणों को मृत पुरुष का श्राद्ध अवश्य ही करना उचित है। तृतीयतः काशीमाहात्म्य में यह भी लेख है कि " अन्यस्थान में रहकर कियाहुआ पाप काशी में क्षय होजाता है परन्तु काशी में किया हुआ पाप वज्रलेप हो जाता है " । इस कारण काशीमृतपुरुष ने काशी रहते समय कोई पाप किया था वा नहीं इस का निराकरण श्राद्धकारी कैसे कर सक्ता है? इसीरीति के अनुसार श्राद्धकर्त्ता को कदापि ज्ञान नहीं होसक्ता कि ठीक शरीर त्याग करते समय मृतपुरुष की आत्मा ज्ञानयुक्तथी वा नहीं; क्योंकि एक क्षण का ज्ञान द्वितीय क्षण में कदापि नहीं होसक्ता, विशेषतः श्राद्धकर्त्ता केवल मृतपुरुष के स्थूल--शरीर को ही देख सक्ता है और उस के सूक्ष्म--शरीर का अनुमान मृत्युरूप कठिन समय में कदापि श्राद्धकर्ता को नहीं होसक्ता। इस कारण सकल अवस्थाओं में कर्तव्य बुद्धि के अनुसार मृतपुरुष के पुत्र व बन्धुगणों को परलोकगामी आत्मा के अर्थ अवश्य श्राद्धकरना उचित है ॥

अब यह प्रश्न होगा कि श्राद्ध द्वारा जीव का मूर्च्छारूप प्रेतत्व कैसे दूर हो सक्ता है? मृतजीवकी आत्माकहीं और श्राद्ध कर्त्ता कहीं है तब एक के अतिदूरवर्त्ती कार्य्य से दूसरे के सूक्ष्म-शरीर को कैसे लाभ पहुंच सकता है? इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में प्रथम विचारना उचित है कि श्राद्ध में कौन २ वस्तु-ओं से काम पड़ता है। मन, मंत्र और श्राद्ध-द्रव्यादि इन्हीं तीन पदार्थों से श्राद्ध-क्रिया हुआ करती है। सृष्टि-क्रिया के आदि में मन ही स्थित है; मन की अलौकिक और सर्व-व्यापी शक्ति द्वारा ही जीव केन्द्रस्थापन करके जन्म मृत्यु आदि परिवर्तन को प्राप्त हुआ करता है। मन की ही शक्ति द्वारा जीव कर्म्मजाल में बँधा रहता है और पुनः मन की ही योग्यता से मुक्तिपद में अग्रसर होता हुआ भगवत्-आश्रय में पहुंचकर उन की सायुज्यता को प्राप्त होकर मुक्त होजाता है। वेदान्त और योग आदि दर्शन-शास्त्रों ने मन की अलौकिक शक्ति एवं मन का सर्वव्यापित्व भाव पूर्ण रूपेण प्रमाणित कर दिखाया है; इसकारण मन की अलौकिक शक्ति तथा इस के सर्वव्यापित्व में जिन को सन्देह हो वे उन दर्शन-ग्रन्थों को अवलोकन कर सकते हैं। मन की इन शक्तियों के विषय में अपने शास्त्रों में तो अकाट्य प्रमाण समूह हैं; इस के उपरान्त आजकल के पश्चिमी विद्वानों ने नाना मानसिक शास्त्रों की उन्नति द्वारा मन की अपूर्व शक्ति को वैज्ञानिक प्रमाण द्वारा सिद्ध कर दिखाया है। इच्छा शक्ति से (जिसको पश्चिमी विद्वान्‌गण Will power कहते हैं) मनुष्य बहुत बड़े बड़े काम कर सकता है। इस से यह सिद्धान्त हुआ कि श्राद्धकर्ता की मानसिक शक्ति से मृत जीव के प्रेतत्वका नाश और उस की तृप्ति भी होती है; और ब्राह्मणभोजनादि रूप ब्राह्मणगणों की मानसिक

शक्ति से भी तृप्ति साधन होती है। पुनः मंत्र की भी अद्भुत शक्ति है; थोड़ीसी ही युक्तियों से मंत्र अर्थात् शाब्द-शक्ति का प्रमाण हो सक्ता है, देखिये जब किसी एक घर में नाना प्रकार के वाद्य-यंत्र अर्थात् मृदंग, तम्बूरा, वीणा, सितार आदि सब यंत्रों को एक ही स्वरमें मिलाकर रख दीजिये, पुनः इन में से एक ही को बजाइये तो सब में से शब्द निकलेगा और सब एक साथ बजने लगेंगे; इस से यह प्रमाणित होता है कि यदि आधार एक जातीय होतो शब्द एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी पूरा कार्य्यकारी हो-सक्ता है। और इस बात को भी विचार करिये कि शब्द ही सब स्थानों पर व्यापक है और शास्त्र भी कहता है कि शब्द-ब्रह्म, स्वर-ब्रह्म, नाद-ब्रह्म, क्योंकि सृष्टि के आदि से ही नाद वा ओंकार रूप शब्द की उत्पत्ति है: जब अव्यक्त निष्क्रय और शुद्ध ब्रह्म से प्रकृति, और प्रकृति द्वारा सृष्टि होचली, तो इस सृष्टि रूप कार्य्य के कम्पन से जो शब्द उठता है उस का नाम ही नाद वा ओंकार है; और इस ओंकार की सहायता से ही हमारे सब वैदिक मंत्र चलते हैं। और विचारने से यह प्रतिपन्न होता है कि स्थूल-शरीर का सीधा सम्बन्ध सूक्ष्म-शरीर से है, और सूक्ष्म का सम्बन्ध चैतन्य से है। इस का दृष्टान्त समझ सकते हैं जैसे तारवर्क़ी में तार एक स्थान से विभिन्न स्थान तक संलग्न रहता है, और जब संवाद-प्रेरक एक स्थान में जिस २ प्रकार से खटका देता है समस्त तार-व्यापित ताड़ित-शक्ति द्वारा उसके लक्ष-स्थान पर उसी प्रकार का खटका पहुँचता है; और सम्वाद-गृहीता को सम्वाद पहुँच जाता है; इसी प्रकार से मंत्र भी प्रणव की शक्ति से लक्ष-स्थानपर पहुँचकर जीव की मूर्च्छा

भंग कर देता है और यदि मूर्च्छा न हो तो उस को शान्ति पहुँचाता है । शास्त्रों में लेख है कि "कार्य्ययत्र विभाव्यते किमपितन् स्पन्देनसव्यापकम् । स्पन्दश्चापि तथाजगत् सुविदितः शब्दान्वयी सर्वदा ॥ सृष्टिश्चापि तथादिमाकृति विशेषत्वादभूतस्पंदिनी । शब्दश्चोदभवत्तदा प्रणव इत्योंकार रूपः शिवः ॥ शास्त्राणांप्रणवः सेतुर्मन्त्राणां प्रणवः स्मृतः । श्रवत्यनोङ्कृतः पूर्वंपरस्ताच्च विशीर्यते ॥ निःसेतु सलिलंयद्वत् क्षणान्निम्नं प्रगच्छाति । मंत्रस्तथैव निःसेतुः क्षणात् क्षरति यज्वनाम्" ॥ अर्थात् जहां कुछ कार्य्य है वहां अवश्य कम्पन होगा, जहां कम्पन है वहां अवश्य शब्द होना भी सम्भव है । सृष्टि-क्रिया भी एक प्रकार का कार्य्य है एवं प्रकृति के प्रथम कम्पन अर्थात् साम्यावस्था प्रकृति के प्रथम हिल्लोल-ध्वनि का नाम ही ओंकार है जो साक्षात् शिव अर्थात् ईश्वर रूप ही है । शास्त्र व मंत्रों का प्रणव सेतु है; मंत्रों के पूर्व वह प्रणव न रहने से मंत्र पतित और पीछे न रहने से मंत्र विशीर्ण हुआ करता है । विना बंध के जल क्षणभर में नीची भूमि को प्राप्त होकर निकल जाता है उसी प्रकार विना प्रणव अर्थात् ओंकार रहित मंत्र क्षणभर में निष्फलता को प्राप्त होके हानि पहुंचाता है । इस प्रकार से शास्त्रों ने जिस प्रणव की महिमागाई है उसी प्रणव की सहायता से श्राद्ध सम्बन्धीय वैदिक मंत्र कार्य्यकारी होकर अपनी शब्द-शक्ति के अनुसार पितरों को उपकार पहुंचाया करते हैं । अब रहा द्रव्यगुण; श्राद्ध-कर्म्म में जिस जिस द्रव्य की आवश्यकता होती है वे सब ही पवित्र और ताड़ित-शक्ति बढ़ाने वाले हैं; जैसे तारसमाचार के प्रत्येक केन्द्रस्थल पर अर्थात् प्रत्येक "टैलिग्राफ़-स्टेशन" पर ऐसी ऐसी औषधियां एकत्रित कर रक्खी

जाती हैं कि जिन के द्वारा ताड़ितशक्ति उत्पन्न होती है, और वही शक्ति सम्वादों के भेजने में सहायता करती है; वैसे ही श्राद्धउपयोगी द्रव्यादि भी श्राद्धकर्त्ता की ताड़ित शक्ति को बढ़ाती रहती हैं। इन विचारों से यही सिद्ध होता है कि यदि मृतजीव का प्रेतत्व हुआ हो तो मानसिक शक्ति और मंत्रशक्ति द्वारा अवश्य मृतजीव के प्रेतत्व का नाश होगा, और यदि प्रेतत्व न भी हुआ हो तो अवश्य ही इन उपरोक्त कारणों से और ब्राह्मण--भोजनादि और दानादि से उस जीवकी पूर्ण तृप्ति होती है॥

ऐसे गूढ़विषयों में जो कुछ कहाजाय सो थोड़ाही है। हमारे शास्त्रोक्त जितने धर्म्म कर्म्म हैं, यदिच साधारण बुद्धि उन के कारणों को जान नहीं सक्ती परन्तु उन के सत्य होने में कोई संशय नहीं। यदि कोई मनुष्य ऐसे गम्भीर शास्त्रीय विचारों को समझ न सक्ता हो तो वह शास्त्र का दोष नहींहै, क्योंकि जब तक साधनादि से उस की बुद्धि शुद्ध न होगी तब तक वह ऐसे गहन शास्त्रीय विचार में प्रवेश न कर सकेगा॥

॥ ओंश्रीहरिः ॥

सृष्टिप्रकरण।

और

योग तत्त्व।

सच्चिदानन्दमय, अनादि, अनन्त ब्रह्म सदा एक रूप हैं; पूर्ण ज्ञान-रूप वे सदा निष्क्रिय और सृष्टि से अतीत हैं, नतो उन को कोई प्रकार की क्रिया स्पर्श कर सक्ती है, न उन में कोई क्लेशों की सम्भावना है; भूत, भविष्यत्, वर्त्त-मान काल में वे सदा एक रूप से ही वर्त्तमान हैं। इच्छा-अनिच्छा-रूप इच्छा से उन्हीं की इच्छामयी शक्ति द्वारा यह संसार उत्पन्न होता है, वर्त्तमान रहता है, और पुनः उन्हीं में लय को प्राप्त होजाता है। सृष्टि की उत्पत्ति और सृष्टि की स्थिति की अवस्था में वे सर्व्वशक्तिमान् परमे-श्वर परमात्मा अपने जिस अंश अथवा जिस भाव में सृष्टि को धारण करते हैं, उन की उस सृष्टि की ऐश्वर्य्यता के कारण उन की उस अवस्था का नाम ईश्वर है, और जब सृष्टि नहीं रहती अथवा जिस अवस्था में सृष्टि नहीं है, उन की उस निष्क्रिय और प्रशान्त अवस्था का नाम ब्रह्म है। लीलामय भगवान् की लीलामयी शक्ति द्वारा जो संसार उत्पन्न हुआ है; सर्व्वशक्तिमान् श्रीभगवान् की सर्व्व-शक्तिमयी इच्छारूपिणी महाशक्ति का नाम ही महा-विद्या, प्रकृति और शक्ति है। जब सृष्टि--क्रिया आरम्भ हुई अर्थात् निष्क्रिय रूप शान्त अवस्था में जब क्रियारूप सृष्टि हुई; तो यह विचारने के योग्य है कि जहां क्रियारूप

कम्पन हुआ, और जिस कारणरूपी शक्ति से कम्पन हुआ, इन की दो स्वतंत्र सत्ता हुई; सृष्टिकर्त्ता ईश्वर, कि जिन की इच्छा से सृष्टिरूप क्रिया हुई उन का नाम ईश्वर, और उन की इच्छारूपिणी शक्ति का नाम प्रकृति है (१) जैसे समुद्र में तरङ्ग उठने से समुद्र की और तरङ्ग की स्वतंत्र स्वतंत्र सत्ता होजाती है, उस ही प्रकार ईश्वर-रूप समुद्र और जीव-रूप तरङ्ग की स्वतंत्र सत्ता हुई। गंभीर, प्रशान्त समुद्र रूपी ईश्वर की सत्ता में तो कोई भी भेद नहीं पड़ा, परन्तु अविद्या के कारण प्रत्येक तरङ्ग ने अपनी स्वतंत्र सत्ता मानली। अविद्या के कारण जीव-रूपी चैतन्य ने जब अपनी स्वतंत्र सत्ता अनुभव करके, अहंकार के वशीभूत होकर स्वतंत्र केन्द्र स्थापन कर लिया, यह अल्पज्ञ रूपी स्वतंत्र स्वतंत्र केन्द्र ही जीव का जीवत्व है। सर्व्वशक्तिमान् भगवान् के आधीन विद्या-रूपिणी-महाशक्ति रहकर सदा सृष्टि, स्थिति और लय--क्रिया किया करती हैं, परन्तु जीव अवस्था में इस से विरुद्ध बात बनी, अर्थात जीव-मोह-कारिणी अविद्या का प्रभाव जीव पर हुआ, और जीवरूपी चैतन्य अविद्या के आधीन होकर सृष्टि-क्रिया में फँस गया। अब जीव रूपी चैतन्य अपने आप को प्रकृतिवत् मानने लगा। प्रकृति त्रिगुणमयी है, सत्व, रज और तम; अब जीव फँसकर अपने आप को त्रिगुणमय समझने लगा; जीव के इस फँसाने का कारण अनादि

---

१ प्रणव यहीं के कार्य्य से सम्बन्ध रखता है, जहां कोई कार्य्य है वहां अवश्य कम्पन होगा, जहां कोई कम्पन है वहां अवश्य कोई शब्द होगा; सृष्टि के आदि कारण रूप कार्य्य की ध्वनिही ओंकार है; योगी जब इस साम्यावस्था-प्रकृति में मन लेजासक्ता है तब ही वह प्रणवध्वनि श्रवण करने का अधिकारी होसक्ता है ॥

अविद्या है, और अविद्या के कारण से ही जीवने अल्पज्ञता को प्राप्त होके अहंकार के वशीभूत हो अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापन करली, इसी अवस्था का नाम जीव, इसी अवस्था का नाम प्रधान और इसी अवस्था का नाम कारण-शरीर है ॥

सर्वशक्तिमान् परमात्माने जब अपनी इच्छा आनिच्छा रूप इच्छा से विद्यारूपिणी अपनी महाशक्ति के द्वारा इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि आरम्भ की तो प्रथम आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई; यही पञ्चतत्त्व कहाये; और इन हीं से सारे संसार की सृष्टि बनी । प्रकृति त्रिगुणमयी है, और आदिकारण रूपी अनादि प्रकृति से ही इन पांचों तत्वों की सृष्टि हुई है इसकारणं यह भी त्रिगुणात्मक हैं । इन पांचों भूतों के मिले हुए सत्व अंश से बुद्धि, और इन के मिले हुए रज अंश से मन उत्पन्न हुआ; सृष्टि का कारण रूपी अहंतत्त्व पुनः विस्तार होकर अहंकार और चित्त कहाया; इन चित्त और अहंकार दोनों को मन और बुद्धि का अन्तर्विभाग समझना उचित है अर्थात् चित्त तो मन का अन्तर्विभाग और अहंकार बुद्धि का अन्तर्विभाग है; यही मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का एकत्व सम्बन्ध अन्तःकरण कहाया । इन पांचों भूतों में जो प्रत्येक का गुण है वही तन्मात्रा कहाती हैं; अर्थात् आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस, और पृथिवी का गन्ध; पांचों तत्वों के यह पांचों गुण पञ्चतन्मात्रा कहाये । इन पांचों तन्मात्राओं से सृष्टि की सहायता में विस्तार को प्राप्त होकर पञ्चज्ञान-इन्द्रिय उत्पन्न हुईं, अर्थात् शब्द से श्रोत्र, स्पर्श से त्वक्, रूप से चक्षु, रस से जिह्वा, और

गन्ध से घ्राण--इन्द्रिय उत्पन्न हुई, यही पांचों पञ्च-ज्ञान-इन्द्रिय कहाईं। प्रत्येक तत्त्वों के स्वतन्त्र स्वतंत्र सत्त्वगुण से पांचों ज्ञान-इन्द्रिय उत्पन्न हुईं ऐसा समझना उचित है। परंतु इन्हीं पांचों तत्वों के स्वतंत्र स्वतंत्र रजोगुण से वाक् आदि पांच कर्म्म-इन्द्रिय प्रकट हुईं, अर्थात् आकाश के रज अंश से वाक्, वायु के रज अंश से पाणि, तेज के रजअंश से पाद, जल के रज अंश से पायु और पृथिवी के रज अंश से उपस्थ उत्पन्न हुए, और यही पांचों पांच कर्म्म--इन्द्रिय कहाईं। इनहीं पांचों भूतों के विस्तार से सृष्टि उत्पन्न हुई। जब यह भूतगण अलग अलग सूक्ष्मावस्था में होते हैं तब यही अगोचर रहकर अपंचीकृत महाभूत कहाते हैं; और जब यही पांचों भूत आपस में मिलजुलकर स्थूलता को प्राप्त होते हैं अर्थात् उन में तब आधा तो अपना अंश होता है और आधा और चारों भूतों का अंश होता है, इस प्रकार यह पांचों भूत स्थूलता को प्राप्त होकर दृष्टिगोचर होते हुए पञ्चीकृत महाभूत कहाते हैं॥

वेद और वेदसम्मत सब शास्त्र ही एकवाक्य होकर यही कहते हैं कि परमात्मा ब्रह्म अर्थात् पुरुष और त्रिगुणमयीमाया अर्थात् प्रकृति इन दोनों की इच्छा और मेल से ही सृष्टि उत्पन्न हुई है। चाहे कोई शास्त्र एक प्रकार वर्णन करे और चाहे दूसरा शास्त्र दूसरी प्रकार वर्णन करे, परन्तु सबों का आशय एकही है; सबोंने ही सर्वशक्तिमान् पूर्ण ब्रह्म पुरुष को निष्क्रिय और स्वतंत्र माना है, और त्रिगुणमयी प्रकृति को ही सृष्टि का कारण कर जाना है। सांख्यदर्शन ने सृष्टि की कारण रूपा प्रकृति को चौबीस तत्त्वों में वर्णन किया है, और उसी प्रकृति के विस्तार को वेदान्तदर्शन ने पञ्चकोश करके वर्णन किया है।

जैसे सांख्यशास्त्र ने चौबीस तत्वों से उपराम होने का नाम मुक्ति लिखा है, वैसेही पञ्चकोशों से अलग होने का नाम वेदान्तशास्त्र ने ब्रह्मसद्भाव कहा है; बात सब शास्त्रों की एक ही है; लक्ष सबों का एक ही है; परन्तु केवल साधन-विभाग अर्थात् मुक्तिपद पर पहुँचने का उपाय सब शास्त्रों ने स्वतंत्र स्वतंत्र रीति से वर्णन किया है। प्रथम जब जीव रूपी चैतन्य अविद्या में फँसकर अपने आप को प्रकृतिवत् मानने लगा वही कारण-शरीर है; और कारण-शरीर, अन्तःकरण, पञ्चतन्मात्रा सहित पञ्चज्ञान-इन्द्रिय मिलकर सूक्ष्म-शरीर कहाया; और सूक्ष्म--शरीर के साथ जब पञ्चीकृत महाभूतों की सहायता से स्थूल--शरीर बना, तो वह सूक्ष्म-शरीर के साथ पञ्चकर्म्म-इन्द्रिय मिलकर स्थूल-शरीर कहाया।यह स्थूल-शरीर जीव के देह-पात के पश्चात् यहीं पड़ा रहता है; और सूक्ष्म-शरीरविशिष्ट-जीव ही जन्मान्तर प्राप्त करता है। स्थूल-शरीर केवल सूक्ष्म-शरीर का विस्तार-मात्र है; जीव जो कुछ कर्म्म करता है, जो कुछ कर्म्म भोगता है, और जो कुछ कर्म्म भविष्यत् में भोगने के अर्थ उनका संस्कार संग्रह करता है; वह सब सूक्ष्म-शरीर द्वारा अन्तःकरण में ही करता है। जब तक अविद्या की स्थिति है, तब तक जीव रूपी चैतन्य अपने आपको अन्तःकरण करके माने हुए है, जब तक उसका मानना है तब तक उस अन्तःकरण के काम में उसका फँसना भी रहेगा, और जब तक यह भ्रममूलक सम्बन्ध रहेगा तब तक नाना सुख दुःख रूपी कर्म्मों में फँसता हुआ जीव आवागमन रूपी चक्र-पथ में भ्रमता रहेगा ॥

"योग" शब्द का अर्थ जोड़ना है; अर्थात् जीवरूप चैतन्य जो अविद्या में फँसकर परमात्मा परब्रह्म से भिन्न होरहा

है, उसकी इस भिन्नता को दूर करके उसके पहले रूपमें उसको लाकर पुनः जहां से निकला था वहीं पहुंचा देने का नाम योग कहाता है; अर्थात् जीवात्मा को परमात्मा में जोड़ने का नाम योग है। इस प्रकार जीव को मुक्तिपद में पहुंचाने के अर्थ वेदों व शास्त्रों में जितने प्रकार के साधन वर्णन किये गये हैं; वे सब चार विभाग में विभक्त किये गये हैं, यथा-मंत्रयोग, हठयोग, लययोग, और राजयोग। शास्त्रोक्त किसी मंत्र का जप और शास्त्रोक्त किसी रूप का ध्यान करते करते चित्त-वृत्ति-निरोध द्वारा मुक्तिपथ में अग्रसर होने का नाम मंत्रयोग है, शारीरिक क्रिया द्वारा चित्त-वृत्ति-निरोध कर के मुक्तिपथ में अग्रसर होने का नाम हठयोग है, षट्चक्रभेद द्वारा बहिर्मुखी शक्ति को ब्रह्माण्ड में लय करके मुक्तिपथ में अग्रसर होने का नाम लययोग है, और केवल बुद्धि की सहायता से ब्रह्मविद्या विचार द्वारा चित्त-वृतियों से उपराम होके मुक्तिपथ में अग्रसर होने का नाम राजयोग (१) है। जिस मूलभित्ति पर यह चारों साधन-मार्ग स्थित हैं उसका विवरण छओं दर्शन पुष्ट करते हैं; उन दर्शनों में से योगीराज महर्षि पतञ्जलिकृत योग-दर्शन ने साधन-मार्ग के क्रिया-सिद्धांश को भलीभांति सार्व-भौम दृष्टि से वर्णन किया है। सूत्रकार महर्षि ने अपने दर्शनग्रन्थ को चार भाग में विभक्त किया है; प्रथम भाग में योग अर्थात् समाधि का वर्णन किया है, द्वितीय भाग में योग के अनुकूल और योग के प्रतिकूल गुण और क्रिया-ओं का वर्णन किया है, तृतीय में समाधि की अवस्थाओं

---

१ इन चार प्रकार के साधनों का विस्तारित विवरण "योगसाधनचतुष्टय" नामक ग्रन्थ अथवा स्वतंत्र स्वतंत्र आचार्य्यों की स्वतंत्र स्वतंत्र संहिताओं में द्रष्टव्य है।

का वर्णन है, और चतुर्थ भाग में कैवल्य अर्थात् योग-साधन के लक्ष का वर्णन किया है ॥

सृष्टि की क्रिया से लय की क्रिया विपरीत है, अर्थात् अनुलोम से सृष्टि होती है और विलोम से लय होता है। यह पूर्व्व ही कह चुके हैं कि ईश्वर से प्रकृति, प्रकृति से महत्तत्व महत्तत्व से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, और तत्पश्चात् इन के ही विस्तार से समस्त संसार उत्पन्न हुआ है, परन्तु लय होते समय इस से विपरीत होगा; अर्थात् संसार का भावान्तर होकर पृथिवी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश महत्तत्व में, महत्तत्व प्रकृति में और प्रकृति ईश्वर में लय होकर ब्रह्मभाव की प्राप्ति होगी । योगशास्त्र में यही सिद्ध किया गया है कि अन्तःकरण ही सृष्टि और लय करने का कारणस्थल है; जैसे अंतःकरण वृत्ति के साथ बहिर्जगत् का संबन्ध होने से सृष्टि का विस्तार होता है, वैसे ही अन्तःकरण-वृत्तियों के निरोध करने से लयरूपी मुक्तिपद की प्राप्ति होती है । अब विचारना उचित है कि सृष्टि में अन्तःकरण की कौन कौनसी वृत्तियां रहती हैं और योगशास्त्रोक्त मुक्ति-पद के प्राप्त करने के अर्थ उन वृत्तियों में किस किस प्रकार का बदल होता है । सत् असत् अर्थात् पाप पुण्य के विचार से वृत्तियों के दो भेद हैं, यथा क्लिष्ट और अक्लिष्ट, क्लिष्ट--वृत्ति वे कहाती हैं कि जिन के द्वारा जीव दुःखदायक पाप संग्रह करता है, यथा—काम, क्रोध, हिंसा अहंकार और द्वेष आदि; और अक्लिष्ट- वृत्ति वे कहाती हैं जिन से जीव सुखदायक पुण्य संग्रह करता है, यथा—दया, मैत्री, सरलता, क्षमा और शीलता आदि । जैसे सत् असत् भेद से अन्तःकरण की वृत्ति के दो भेद हैं, वैसे ही

गुण भेद से उन के तीन भेद हैं। प्रथम तमोगुण की वृत्ति वह है कि जिस समय मन में चैतन्य अर्थात् ज्ञान का भाग बहुत कमहो और मन अपने ही स्वभाव से नाचता हुआ कहीं से कहीं अपने आप ही उन्मत्त हुआ फिरता हो, जैसे बेलगाम का घोड़ा; मन की उस अवस्था का नाम मूढ़ है। दूसरी रजोगुण की वृत्ति वह कहाती है कि जब मन किसी विशेष लक्ष के अवलम्बन से बुद्धि-युक्त होकर सत असत विचार में प्रवृत्त होता है, अर्थात् और कहीं न भटक कर एकही काम में लगा रहता है, मन की इस अवस्था का नाम क्षिप्त है। और तीसरी सत्वगुण की वृत्ति वह कहाती है कि जब अन्तःकरण इन दोनों वृत्तियों से अलग होकर ठहर जाता है, अर्थात् न उस में मन की उन्मत्तता ही रहती है और न बुद्धि का विचार ही रहता है, इस शून्यगत वृत्ति का नाम विक्षिप्त है; यह विक्षिप्त-वृत्ति जीव में बहुत थोड़ी देर के लिये कभी कभी हुआ करती है। यह मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त जीव की स्वाभाविक--वृत्तियां हैं, अर्थात् जिस अन्तःकरण में जो गुण अधिक होगा उस में उस ही प्रकार की वृत्ति अधिक हुआ करेगी; तामसी अर्थात् आलसी पुरुषों में मूढ़-वृत्ति, राजसी अर्थात् कर्म्मठ पुरुषों में क्षित--वृत्ति, और साधु गणों में विक्षिप्त-वृत्ति अधिक हुआ करती है। क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्ति से मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त वृत्तियों का एक ही सम्बन्ध है; अर्थात् सत् असत भेद से सत्व और तमोगुण यही दोनों प्रधान हैं, बीच का रजोगुण एक सहायक मात्र है; अर्थात् रजोगुण जब तमोगुण की ओर चलने लगता है उस समय अन्तःकरण में क्लिष्ट अर्थात् पापजनक वृत्तियों का उदय होता है; उसी प्रकार रजोगुण जब सत्वगुण की ओर चलने

लगता है तब ही अन्तःकरण में अक्लिष्ट अर्थात् पुण्य-जनक वृत्तियों का उदय हुआ करता है । योगशास्त्र यही सिद्ध करता है कि जब मूढ़, क्षिप्त और विक्षिप्त रूपी पाप और पुण्य-जनक वृत्तियां कुछभी अन्तःकरण में न उठें, तो उसी वृत्ति-शून्य निरुद्ध अवस्था से मुक्ति की प्राप्ति होसक्ती है । इस प्रकार से मुक्तिपद की साधक रूपी निरुद्ध-वृत्ति के लाभ करने के अर्थ योग्यशास्त्र ने एक पंचम वृत्ति निकाली है, जिसका नाम एकाग्र है; यह एकाग्रवृत्ति साधकगणों में ही उत्पन्न होसक्ती है। जब अन्तःकरण में केवल ध्याता अर्थात् ध्यान करने वाला, ध्येय अर्थात् लक्ष्य और ध्यान अर्थात् ध्यान करने की शक्ति, इन तीनों के अतिरिक्त और कुछ भी अनुभव न रहे, अन्तःकरण की उस स्थिर-अवस्था का नाम एकाग्र है । इसी प्रकार इस एकाग्रवृत्ति की दृढ़ता होजाने से शनैः शनैः अन्तःकरण में ध्याता, ध्यान और ध्येय का नाश होकर वह निरुद्ध अवस्था को प्राप्त होजायगा; अन्तःकरण–निरुद्ध–अवस्था में वृत्ति-शून्य होने से उस की निर्मलता के कारण जीव भगवत्-साक्षात् कार कर के मुक्त हो जायगा । इस प्रकार जीव की स्वाभाविक त्रिगुणमयी वृत्तियों को एकाग्रता रूप योग-साधन से दबाकर, निरुद्ध–अवस्था में पहुंचकर, योग-क्रिया द्वारा जीव मुक्ति प्राप्त करसक्ता है । अन्तःकरण जब बहिर्मुख होकर तन्मात्रा और इन्द्रियों की सहायता से किसी विषय में लगजाता है, तबही वह उस विषय के रूप को धारण करने से विषयवत् होकर विषय में फंसजाया करता है; परन्तु जब एकाग्रवृत्ति के साधन से अन्तःकरण की यह चंचलता दूर होजायगी, तो वह पुनः बहिर्मुख होही नहीं सकेगा; तत्पश्चात् जब अन्तःकरण की पूर्ण स्थिरता होने

से निरुद्ध-वृत्ति का उदय होगा, तब ही वह आत्म-साक्षात्कार करने में समर्थ होजायगा। इसी एकाग्रवृत्ति की वृद्धि करते करते निरुद्ध-वृत्ति में पहुंचजाने को ही साधन कहते हैं, इसी निरुद्धता रूपी अन्तःकरणकी वृत्ति शून्य करने का नाम ही योगशास्त्रोक्त योग कहाता है॥

जैसे पक्षी एक पंख द्वारा नहीं उड़ सकता; अर्थात् जब तक उस के दोंनों पंख कार्य्यकारी नहों तब तक उड़ने की शक्ति नहीं होगी, उसी प्रकार साधक में जब तक साधन और वैराग्य रूपी दो पंख नहों, तब तक वह मुक्ति रूपी स्थान में गमन नहीं करसकेगा। प्रकृति परिवर्तनशील है, इसकारण उससे बनाहुआ यह संसार क्षणभंगुर है, चाहे यह लोक हो चाहे परलोक, चाहे नरभूमि हो चाहे सुरभूमि, सबही तीन गुणों के परिवर्तन के कारण क्षणभंगुर हैं। ऐसा विचार करके जब साधक का अन्तःकरण इस संसार के सब प्रकार के सुख और स्वर्गादि पारलौकिक सुख को अनित्य अर्थात् मिथ्या समझ कर उस ओर से मुंह फेर लेता है, वह विषय राग रहित अवस्था ही वैराग्य कहाती है। शास्त्रकारों ने इस वैराग्य के तीन भेद लिखे हैं। जब विवेक रूपी सात्विक बुद्धि के उदय से साधक यह विचारने लगता है कि यह सब माया का खेल झूठा है, अब इस से बचकर मुक्ति पद की ओर चलना चाहिये, वह प्रथम अवस्था वैराग्य की है; पुनः जब यह वैराग्य-बुद्धि दृढ़ होकर साधक का अन्तःकरण सब पदार्थों को ही दुःखमय देखने लगता है, अर्थात् जैसे बलपूर्व्वक विषपान करने में जीव को अतिक्लेश अनुभव होता है वैसेही जब सब सुख ही साधक को दुःखमय विष तुल्य भान होने लगते हैं; तब ही वह वैराग्य की

उन्नत-अवस्था द्वितीय अवस्था है; परन्तु सर्वश्रेष्ठ परावैराग्य की अवस्था वह कहाती है कि जिस समय साधक वैराग्य साधन से ऐसी पूर्णता को प्राप्त होगया हो कि उस समय उस के अन्तःकरण ने एकबार ही संसार से मुंह फेर लिया हो; वह वैराग्य की सर्वश्रेष्ठ अवस्था तीसरी अवस्था है। जब परावैराग्य के उदय होने से अन्तःकरण पूर्ण रूपेण इच्छा-शून्य होजाती है तब वह संसार की ओर देखता ही नहीं; योग-पथ में अग्रसर होते हुए महात्मागणों को नानाप्रकार की दिव्य ऐसी सिद्धियों की प्राप्ति हुआ करती है, जिन के द्वारा योगी चाहे जो कुछ कर सकता है; यह परावैराग्य की ही शक्ति है कि जिस से साधक पुनः सिद्धिरूप विषयों में नहीं फंसते। इस कारण वैराग्य की पूर्णावस्था परावैराग्य और साधन की पूर्णावस्था अन्तःकरण की निरुद्धता इन दोनों का एक ही लक्षण है। इस प्रकार क्लिष्ट रूपी पापजनक वृत्तियों को शनैः शनैः अक्लिष्टरूपी पुण्यजनक वृत्तियों से दबाना उचित है, और पुनः वैराग्य अभ्यास से अक्लिष्ट वृत्तियों तक को दबाकर इच्छा रहित होने से मुक्तिपद की प्राप्ति होसक्ती है॥

योगशास्त्र ने साधन और वैराग्ययुक्त पुरुषार्थ के आठ भेद किये हैं, और वेही योगके आठ अंग कहाते हैं; यथा-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, ईश्वर-विश्वास, लोभ का त्यागना यह यम कहाते हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर-भक्ति यह नियम कहाते हैं। इस प्रकार यम और नियम द्वारा जब अन्तःकरण की वृत्ति शुद्ध होजाती है तबही साधक योग-मार्ग में अग्रसर होता है। आसन उन शारीरिक क्रियाओं का नाम है कि जिन

के द्वारा शरीर और मन दोनों प्रसन्न रहते हैं; अर्थात् जिस सुगम रीतिमें बैठने से योग-साधन ठीक बनता हो। रेचक, पूरक और कुंभक द्वारा शनैः शनैः प्राणवायु पर आधिपत्य जमाने का नाम प्राणायाम क्रिया है; अर्थात् मन से वायु का साक्षात् सम्बन्ध है इस कारण प्राणवायु वशीभूत होने से मन आपही वशीभूत होजाता है। जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को सकोड़ लेता है उसी प्रकार विषयों से इन्द्रियों को सकोड़ लेने का नाम प्रत्याहार है। पञ्चतत्त्वादि सूक्ष्म विषयों में मन को ठहराने का नाम धारणा है; अर्थात् धारणा अभ्यास के समय योगी अन्तर्जगत् में भ्रमण करने लगता है। भगवत् रूप को ध्यान करने का नाम ध्यान है अर्थात् ध्यानावस्था में ध्यान की सहायता से ध्याता और ध्येय का ज्ञान रहता है; यह ही द्वैत अवस्था ध्यान की है। धारणा, ध्यान और समाधि यह तीन साधन-क्रिया द्वारा जब साधक एकही पदार्थ विशेष में युक्त होतो साधक की उस अवस्था को संयम कहते हैं, यह संयम-क्रिया सविकल्प समाधि में हुआ

करती है। यह संयम साधन की ही शक्ति है कि जिसके द्वारा महर्षि गण त्रिकालदर्शी हुआ करते थे; यह उस संयम-साधन की ही शक्ति है कि जिसके द्वारा महर्षिगणों ने बिना बहिर्चेष्टा के केवल ध्यानयुक्त होकर ही नाना शरीर विज्ञान एवं ज्योतिष आदि नाना बहिर्विज्ञानों को आविष्कार किया था। संयम सम्बन्धीय इन साधनों का वर्णन विभूतिपर्व में आया है। समाधि उस अवस्था का नाम है कि जब ध्याता, ध्येय और ध्यान इन तीनों की स्वतंत्र सत्ता मिटकर एक रूप हो जाय और सिवाय परमात्मा के और दूसरा भाव न रहे। इस प्रकार संयम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार यह पांचों बहिर्जगत के साधन हैं; और धारणा, ध्यान और समाधि यह तीनों अन्तर्जगत के साधन हैं; और इस प्रकार सुकौशल पूर्ण योग के आठ अंगों का साधन करते करते साधक शनैः शनैः अंतःकरण को निरुद्ध करता हुआ कैवल्य रूपी मुक्तिपद को प्राप्त करलेता है॥

पूज्यपाद पतञ्जलि मुनि कृत "योगदर्शन" सकल प्रकार के साधनों की सार्वभौम भित्ति है; अर्थात साधक चाहे

किसी प्रकार का हो, चाहे वह मंत्रयोग का अधिकारी हो, चाहे वह हठयोग का अधिकारी हो, चाहे वह लय-योग का अधिकारी हो, चाहे वह राजयोग का अधिकारी हो, चाहे वह भक्त हो, चाहे ज्ञानी, चाहे भोगी हो, चाहे त्यागी, योगशास्त्र सब प्रकार के जीवों के लिये कल्याण–पथ दिखा चुका है। चार प्रकार के योगसाधनमार्ग और नाना प्रकार के साम्प्रदायिक–साधनमार्ग, और भक्ति-साधनादि सब इस ही योगशास्त्र की प्रदर्शित भित्ति पर स्थित हैं। अष्टांगयोग के अतिरिक्त और भी कई प्रकार से योग की प्राप्ति होसक्ती है, इस का वर्णन भी योगसूत्रों में भलीभांति आचुका है। जीव-हितकारी महर्षिजी ने यह प्रमाणित कर दिया है कि, अष्टांगयोग ही सीधा पथ है; परन्तु इस के अतिरिक्त भी ईश्वरभक्ति का अभ्यास, प्रणव आदि मंत्र का जप, प्राणायाम--साधन, पञ्चतन्मात्रा रूपी दिव्यविषयों में मन का लय-साधन करना, ज्योतिः आदि भगवद्रूप का ध्यान, मन की शून्यता–अभ्यास और अपनी इच्छा अनुसार शुद्ध मूर्त्तियों में मन लगाय कर ध्यान करने से भी शनैः शनैः अन्तःकरण एकाग्र हो जाता है; और इस प्रकार एकाग्र होता हुआ निरुद्ध-अवस्था को प्राप्त करके जीव मुक्तिपद को पहुंच सक्ता है। चाहे कोई किधर से ही चलो योगशास्त्र की बताई हुई एकाग्र–भूमि से निरुद्ध–भूमि में पहुँचने का नाम ही साधन है।

योगशास्त्र ने समाधि के दो भेद किये हैं; यथा सविकल्प-समाधि और निर्विकल्प-समाधि। सविकल्प-समाधि में साधक का अन्तःकरण निरुद्ध होजाने से वह भगवत् साक्षात्कार करने लगता है; परन्तु दर्शन करना तब बना

रहता है अर्थात् समाधि की उस पूर्व्व अवस्था में जीव को आत्मसाक्षात्कार तो होजाता है, परन्तु उस अवस्था में कुछ द्वैत का भेद बना रहता है । और निर्विकल्प-समाधि वह कहाती है जहां प्रकृति का पूर्ण रूपेण ही लोप होकर जीव ब्रह्म की एकता स्थापन होजाय, अर्थात् उस समय एक अद्वितीय सत्-चित्-आनन्द रूप परमात्मा के और कोई दूसरा भान न रहे। यही योगमार्ग का कैवल्य रूपी मुक्तिपद कहाता है, इस स्थान पर आकर वेदोक्त सब मत एक होजाते हैं; यही वेदान्त का ब्रह्मसद्भाव है, यही भक्तिमार्ग की पराभक्ति है, यही और २ दर्शनों की अत्यन्त दुःख-निवृत्ति है, और यही वेदोक्त आत्मसाक्षात्कार है। इसी अवस्था में जीव के जीवत्व का नाश होजाता है, वह जहां से आया था वहीं पहुँच जाता है, जो था वही होजाता है । अनादि काल से उत्पन्न हुई और अनन्तकाल तक रहने वाली यह सृष्टि-क्रिया यदिच उस समय भी रहेगी; परन्तु वह जीव कि जिसने योग-साधन रूपी पुरुषार्थ किया था वह योगसाधन से मुक्त होजायगा; और उसके मुक्त होने के कारण उस के अंशकी प्रकृति महाप्रकृति में लय होजायगी; और वह आकाश-पतित पुनरावृत्ति को प्राप्त हुए वारिबिंदु की नाईं परमात्मा रूपी महासमुद्र में लय होजायगा । यह वाक्यातीत, मन की अगोचर मुक्तावस्था ही योगसाधन का लक्ष है ॥

ॐ

मुक्तितत्त्व।



एक समय मन विचारने लगा कि यह संसार क्या है? विचारा, पुनः विचारा, विचारते२ घण्टों बीत गये, पर इस असार संसार में सार कुछ भी दिखाई न दिया ! अट्टालिकावासी राजराजेश्वरसे लेकर पर्णकुटीरवासी दीन हीन तक देखा, महामहोपाध्याय पंडितवर से लेकर निरक्षर मूर्खाधम तक अन्वेषण किया, परन्तु जहां सुना वहीं हाहाकार-कहीं शोकाग्नि में फुंककर रोना, कहीं रोग के दुःखसे व्यथित होना, कहीं निठुर शत्रुओंका अत्याचार, कहीं घोर दुर्जनोंका व्यभिचार, कहीं विरह का विषाद, कहीं मोहका प्रमाद, जब देखा तो पाया कि जहां संयोग वहीं वियोग, जहां भोग वहीं रोग, जहां सन्मान वहीं असन्मान, जहां धन वहीं निर्धनता, जहां बल वहीं दुर्बलता, जहां यौवन वहीं जरा, जहां जन्म वहीं मृत्यु, जिधर मन लेचला उधर ही विचारने लगे परन्तु अन्त में "दिल्लीके बूरके लड्डू" स्मरण आये, देखा तो यही देख पड़ा कि "जो खावे वह भी पछतावे, जो न खावे वह भी पछतावे"।

पुनः विचारा कि यह संसार चाहता क्या है? जब देखते हैं कि श्रेष्ठ मनुष्य से लेकर निकृष्ट कीट पर्य्यन्त सबही एक किसी वस्तु के पाने के अर्थ सदाही उन्मत्त होरहे हैं। हमारा सोना, जागना, बैठना, उठना, चलना, फिरना, खाना, पीना, हँसना, रोना, सब ही एक किसी वस्तु के पाने के अर्थ हैं। निष्पाप आनन्दकारी मनुष्यगणोंको

जब गीतवाद्य आदि निर्दोष-क्रीड़ा में लिप्त देखते हैं, पुनः जब विचारहीन पुरुषोंको प्रमादकारी मदिरा आदि सेवन से उन्मत्त देखते हैं, तब अनुसंधानसे यही निश्चय होता है कि वे सबही किसी एक वस्तु की प्राप्तिके अर्थ ही कुछ अन्वेषण करते हुए उसकार्य्य में लिप्त हैं। उसी एकमात्र लक्ष के साधनार्थ जीव दुर्गम हिमालयपर्वत पर चढ सक्ता है और अथाह समुद्रकोभी पार हो सक्ता है। उसी लक्षके पानेके कारण राम रावण के युद्धसे लङ्का राज्य दग्ध हुआ, उसीके कारण महाभारत के महायुद्धमें भारत श्मशान भया; उसी लक्ष के अन्वेषण में ही हमारे पूर्ववर्त्ती आर्य्य ऋषिगण संसार को असार समझ निर्जन काननवासी बन बैठे थे; अब उसीके ही खोज में सभ्य यूरोपवासी घोर विषयासक्त होरहे हैं। विचार करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि अति क्षुद्र पिपीलिकासे लेकर उन्नत ज्ञानी मनुष्य तक सब ही प्रति मुहूर्त्तमें उसी एक वस्तुके पानेके अर्थ उन्मत्त होरहे हैं। वह पदार्थ क्याहै? सुख।

अब विचारिये कि वहसुख कैसे अथवा कहां प्राप्त हो-सक्ता है? इसके उत्तर में यही सिद्धान्त होगा कि वासना वा इच्छाके पूर्ण होने से जो एक प्रकार की मनोवृत्ति होती है उसीका नाम यथार्थ सुख है; अर्थात् उसी वृत्तिके लाभार्थ जगत् के सब जीव उन्मत्त होरहे हैं। अब देखिये कि विषयवासनाके पूर्ण होने से यथार्थ सुख होता है अथवा वह सुख केवल-मृग मरीचिकावत् है? इसके उत्तर में यही सिद्धान्त होगा कि यदिच विषयवासना के पूर्ण होते समय एक प्रकारकी सुखदायी वृत्ति सी अनुभव होती है, और विषय-तृप्ति होने के पूर्व भी आशा-रूप में कुछ आनन्द प्रतीत होता है, परन्तु ये उभयानन्द

ही यथार्थ आनंद नहीं हैं। क्योंकि विषयी का लक्ष तो पूर्ण सुख पर ही था, और उसकी यही आशा थी कि इस विषय-वासनाके पूर्ण होते ही न जानें कैसा अपूर्व सुख पावेंगे, परन्तु विषयवासना के पूर्ण होते ही एक दूसरा दुःख उठ खड़ा हुआ। विचारिये एक मनुष्यकी यह वासना हुई कि मैं बहुत ही दरिद्र हूं यदि शत मुद्रा कहीं से प्राप्त हों तो परम सुख लाभ हो, दैवकृपासे उसकी वासना पूर्ण हुई तो क्या उस की तृप्ति उसी में होजायगी? कभी नहीं; उसको शतमुद्रा मिलते ही और अधिककी वासना बढ़ेगी; इस विषयमें नीति शास्त्रने भी कहाहै कि "इच्छति शती सहस्रं सहस्री लक्षायते कर्तुं, लक्षाधिपतिश्च राज्यं, राज्येऽपि चक्रवर्त्तित्वं, चक्रधरोऽपि सुरत्वं, सुरपतिरूर्द्धगतित्वं तत्रापि ननिवर्त्तते तृष्णा" इसी प्रकार और विषयवासना भी उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, और कदापि पूर्ण तृप्ति को प्राप्त होकर स्थाई सुख नहीं देसक्ती। प्रार्थी को यही विश्वास था कि मुझे शतमुद्रा मिलते ही परम आनन्द होगा, इसी प्रकार कामीने यही समझ रक्खाथा कि नजानें स्त्रीसंग होते ही क्या अपार सुख मिलेगा; परन्तु इन उभय विषयों की वासना पूर्ण होते ही और नई वासना के साथ नया दुःख उत्पन्न हुआ। इस असार संसार के सब विषय भोगों में ही इसी प्रकारका मोहकारी मिथ्या आनन्द अनुभव हुआ करता है; अभ्रान्त बुद्धि द्वारा जितना विचार किया जायगा उतना ही दृढ़ निश्चय होगा कि यावन्मात्र विषय भोगों में लक्षभ्रष्ट मिथ्या सुख ही अनुभव हुआ करता है; और वह मिथ्या सुख केवल परवर्त्ती दुःखका ही कारण होता है।

इस विषय वासना रूपी मरीचिका का कारण यह है कि, जीव की स्वाभाविक गति तो वास्तवमें यथार्थ सुख की

ओर ही है; परन्तु भ्रम के कारण, बुद्धिमें प्रमाद आजाने के कारण, जीवात्मा अहंकार रहने के कारण, एवं अघटन-घटना पटीयसी मायाके दुर्दमनीय प्रभावके कारण ही विषय रूपी असत्य सुख को जीव सत्य-सुख मानकर उसके ही प्राप्त करने के अर्थ सदा पुरुषार्थ किया करता है। वास्तवमें जीव की स्वाभाविक गति सृष्टि--नियमके अनुसार अद्वितीय परमानन्दरूप आत्म-सुख की ओर हीहै परन्तु जीव को आत्म--विस्मृति होने के कारण वह दैहिक-सुख को ही सुखसमझ कर मानने लगता है,परन्तु पदार्थ अपने गुण को कैसे छोड़ सक्ता है, इस कारण विषय-सुख के प्राप्त होने से वह विषय-सुख ही दुःखरूपमें परिणत होजाता है। जब जीव अपने उस प्रार्थनीय विषय को प्राप्त करलेता है, परन्तु विषय क्षणभंगुर होनेके कारण जीव का वह भाव स्थाई नहीं होता, तब उस जीव की पुनः विषयान्तर में गति होने लगती है किन्तु जब वहां भी वह अपने वांछनीय सुख को प्राप्त नहीं होता तो पुनःइसी शैलीपर और२नूतन विषयोंमें भटकतारहता है। इस प्रकारसे उसकी तृप्ति कहीं भी नहीं होती और वह तृष्णातुर मृग की नाईं मरीचिका--भ्रम में फँसकर विकल हो छटपटाने लगता है; यही जीवके त्रि-ताप का रूप है। यह पूर्व ही कहचुकेहैं कि सब जीवों की गति स्वभावसे ही एक अद्वितीय परमानन्दरूप आत्म-सुख की ओर ही है; क्योंकि बिनाकारण के कार्य्य कदापि नहीं हो सक्ता। वैषयिक-सुख-समूह क्षणभंगुर और असत् होने के कारण सुख-शब्द-वाच्य नहीं होसक्ते; परन्तु जीव में तीव्र सुख-प्राप्तिकी अभिलाषा सदा बनी रहती है, इस कारण स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कोई यथार्थ सुख और भी है। एवं सुख-प्राप्ति सम्बन्धी वृत्ति सब जीवों में एक ही

रूप से रहने के कारण उस सुख का रूप भी एकही होना सम्भव है। जीव अपने स्वभाव वश हो सदा उसी अद्वितीय सुख को ढूँढ़ता है; परन्तु वह यथार्थ सुख मिथ्या वैषयिक-सुख-मरीचिका में उस को प्राप्त नहोने से वह जिधर तिधर भटका करता है ॥

दो शक्तियों से यह ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है; एक जड़-शक्ति और दूसरी चेतन-शक्ति। सृष्टि के यावन्मात्र पदार्थ जड़ चैतन्यात्मक हैं; किन्तु भेद इतनाही है कि जड़-भाव की अधिकता के कारण कोई पदार्थ अचेतन कहाता है, और किसी पदार्थ में चेतन की अधिकता होजाने से वह वस्तु सचेतन कहाने लगती है। प्राचीन-दर्शनशास्त्रप्रणेता आचार्य्यगणोंने सब दर्शन-शास्त्रों में एक वाक्य होकर इसी जड़-चैतन्यात्मक विज्ञान की पोषणता की है। अनादि-सृष्टिका अनादि एवं अनन्त-प्रवाह जड़-चैतन्यात्मक होकर अनादिकाल से प्रवाहित होरहा है, और अनन्तकालतक प्रवाहित होगा इस में कुछभी सन्देह नहीं है। इस अनादि अनन्त-प्रवाह के एक ओर पञ्चभूतात्मक जड़रूप यह विश्व है, और दूसरी ओर परमानन्दसागररूप ब्रह्मपद समझा गया है; इस सृष्टिभाव में जड़ता का पूर्ण विकाश पंच-स्थूल भूतों के स्थूलभाव में प्रकाशित हुआ है, और चेतनता का पूर्ण विकास शास्त्रोक्त ब्रह्मभाव में अनुमेय है। इस विज्ञान को और भी स्पष्टरूपेण जानने के अर्थ कहसक्ते हैं कि जड़भाव का मूर्त्तिमान् उदाहरण प्रस्तर, मृत्तिका आदि स्थूलभूत विकार हैं और चेतनभाव की पूर्णता का साक्षात् अनुमान स्थूलप्रज्ञा (बुद्धि) के धारण करनेवाले सिद्ध महात्मागणों का अन्तःकरण भाव समझा

जासक्ता है। क्योंकि एक ओर जड़रूप प्रस्तर से जड़-भूतों का जिस प्रकार साक्षात् सम्बन्ध है, उसी प्रकार दूसरी ओर प्रज्ञाधारी मुक्त-पुरुषों के अन्तःकरण से चेतन-राज्य ब्रह्मपद का सम्बन्ध है। जड़राज्य-प्रकृति त्रिगुणात्मक होनेके कारण परिवर्तनशील है; परन्तु चेतनभाव सदा अपरिवर्तनीय, निःसंग और ज्ञानभावपूर्ण होने के कारण सदा एकरूप से सच्चिदानन्द भाव में स्थित है। जड़राज्य में परिवर्तन होना अवश्य सम्भावी है इस कारण प्रकृति की लीला-भूमि यह संसार सदा परिणामी बन रहा है। एवं प्रकृतिराज्य में परिवर्तन होना अवश्य सम्भावी होने के कारणहीसे जड़ता-प्राप्त जीवगण क्रमशः परिवर्तन-नियम के अनुसार भावान्तर को प्राप्त होते हुए जड़की पूर्णताकी ओर से चेतनकी पूर्णताकी ओर अग्रसर होते रहते हैं। जड़चैतन्यात्मक जीवभाव की इस क्रमोन्नतिसे ही जीवगण सदा आवागमन-चक्रपथमें भ्रमण किया करते हैं; जिस आवागमन-चक्रकी भ्रमणसंख्या शास्त्र-कारोंने चौरासी लक्ष वर्णन की है। इसी प्रकार चौरासी-लक्ष योनियों में भ्रमण करता हुआ जीव जड़-राज्य से चेतन-राज्य की ओर अग्रसर होता है। इस पथका शेष-स्थान ज्ञानवान् "मनुष्ययोनि" है; जिस उन्नत और ऐशी-विभूतियुक्त-योनिसे चेतनभाव की पूर्णतारूप मुक्ति-पद का साक्षात् सम्बन्ध है ॥

यह परिदृश्यमान् ब्रह्माण्ड जड़चैतन्यात्मक जीव-देहसे पूर्ण है; इस संसारका कोई भी ऐसा स्थान नहीं है कि जहां जीवकी स्थिति नहो; मनुष्य के प्रत्येक लोमकूपसे लेकर पृथिवी, जल आदि भूतों के प्रत्येक परमाणु में जीव की स्थिति है इस में कोई भी सन्देह नहीं । परन्तु जीव

अनन्त होने पर भी जीव-स्वभाव के अनुसार जीवगणों को दो भागोंमें विभक्त करसक्ते हैं यथा-प्रथम जड़राज्यके जीव, और द्वितीय चेतनराज्यके जीव। जड़राज्यके जीव-गणों के उदाहरणमें कीट, पतंग, पशु, पक्षी आदि को समझसक्ते हैं; और चेतनराज्यके जीवगणों के उदाहरण में केवल मनुष्य कोही जानसक्ते हैं। यदिच अनन्त लोक होने के कारण देवता आदि और अनेक चेत-नराज्य के जीवोंका होना अन्यान्य लोकों में सम्भव है, परन्तु अपने पृथिवी-लोक पर के जीवगणों में केवल मनुष्यगणों कोही चेतनराज्यके अधिकारी कर-के मानसक्ते हैं। जड़-राज्य के जीवगणों के स्वभाव पर दृष्टि डालने से स्वतःही दृष्टिगोचर होता है कि वे जड़राज्य, अर्थात् प्रकृति के गुणों में वशीभूत हो-कर ही अपनी दैहिक-क्रिया सम्पादन किया करते हैं; उदाहरण स्थल-पै समझ सक्ते हैं कि गो, महिष आदि जीव-गण अपनी प्रकृति के अनुसार ही आहार, निद्रा और मैथुन आदि क्रिया सम्पादन करेंगे और उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकेंगे; उनकी प्रकृति जब और जिस प्रकार का भोजन कराती आई है, अथवा उनकी प्रकृति जिस नियम से मैथुन-क्रिया कराया करती है वे केवल उसी नियम के अनुसार उन क्रियाओंको करसकेंगे; अलौकिक रीतिपर शिक्षा देने पर भी वे कदाचित् उस प्राकृतिक-नियम के विरुद्ध कोई भी कार्य्य नहीं कर सकेंगे। परन्तु चेतनराज्य के अधिकारी मनुष्य-शरीर को प्रकृतिपर आधिपत्य करने का बहुत अवसर दिया गया है; श्रीभगवान् ने कृपाकरके अपनी ऐशी शक्तियों का कुछ कुछ अंश मनुष्य शरीरको देकर उसको उन्नत अधिकारी बिना दिया है। मनुष्य

जिस प्रकार से चाहे उसी प्रकार से आहार, निद्रा, मैथुनादि क्रिया करने को समर्थ है। इसके अतिरिक्त मनुष्य में बुद्धिका पूर्ण विकाश एवं क्रमोन्नति रहनेके कारण मनुष्य नाना अलौकिक कार्य्य करने में समर्थ है, जिसके अर्थ उदाहरण देनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य अपनी बुद्धिविकाशरूप ऐशी-विभूति द्वारा संसार परतो अपना आधिपत्य करताही है; किन्तु अन्तर्जगत्‌रूप आध्यात्मिकभूमि परभी इतना अधिकार स्थापन कर लेता है कि शेषमें ईश्वरसाक्षात्कार करके उनकी कृपासे उनकेही चरणोंमें मिलकर मुक्तिको प्राप्त होजाता है। यही मनुष्यकी श्रेष्ठता है। यदि स्थिरबुद्धि-सम्पन्न जिज्ञासुगण जीवगणोंके इस उन्नत और नत अधिकार पर दृष्टि डालकर जीवकी क्रमोन्नतिपर मनन करें तो उनको समझानेके अर्थ और स्वतंत्र-पुरुषार्थ करनेकी कोईभी आवश्यकता नहीं; इस अभ्रान्त और प्रत्यक्ष सिद्ध-जीवकी गति एवं जीव-प्रवाह की क्रमोन्नतिको देखनेसेही वे मुक्ति तत्त्वको पूर्ण रूपेण हृदयंगम कर सकेंगे।

उन्नत और नत सब प्रकार के जीवगणोंमेंही सुख प्राप्तिकी इच्छा रहने के कारण, अर्थात् ईश्वरनियमके अनुसार उनकी गति अज्ञान रूपी तमोराज्यकी ओरसे ज्ञानज्योतिपूर्ण परमानन्द रूप चेतनराज्यकी ओर होनेके कारण वे सदा सुखके अन्वेषणमें लिप्त रहते हैं। परन्तु प्राकृतिक-चंचलताके कारण वे किस प्रकारसे प्रमादवश हो मिथ्या सुखमें फँस जाया करते हैं इसका विस्तारित विवरण पूर्वही आचुका है। किन्तु इस प्रमाद-वृत्तिसे जड़-राज्यके जीवों को कोई भी हानि नहीं पहुंचती, परंतु चेतन-राज्यके जीवगणों के अर्थ वह मोह बहुत ही भयका कारणहै।

श्रीभगवान्‌ने जड़राज्य के जीवोंको चेतनराज्य की स्वाधीनता नहीं दी है इसी कारण जड़राज्य के प्रभाव से उनकी हानि होने की भी कोई सम्भावना नहीं; किन्तु चेतनराज्य की अधिकारिणी मनुष्ययोनिको जब उन्होंने बुद्धि रूप चेतन–अधिकार दिया है तो इसी कारण से उसको दायित्व का अधिकारी भी कर दिया है। एवं इसी सृष्टि--नियम के अनुसार निकृष्टजीवगण अपने किए हुए कर्म्मोंका फल नहीं भोगते परन्तु मनुष्यगणों के किये हुए प्रत्येक कर्म्म का यथावत् फल उनको मिलाकरता है। यदिच मनुष्यगण प्रकृति–अधिकार पर कुछ स्वाधीनता रखते हैं परन्तु ज्ञानाधिकारी होने के कारण वे अपने सत् असत् कर्म्म फल के आधीन होजाते हैं। जड़राज्य में जीवों को प्राकृतिक–दुःख बहुत ही है इस में कोई भी सन्देह नहीं परन्तु उन के अर्थ शुभदायी नियम यह है कि वे नतो अपने किये हुए कर्म्मों में फँसते हैं और न अपनी अवस्था से जन्मान्तर में अधोगति को प्राप्त होसक्ते हैं। सृष्टि–प्रवाह में बहता हुआ जीव तब तक ऊपर की ओर ही बहता चलेगा जबतक कि उस को दायित्व रूप चेतनराज्य का अधिकार अर्थात् मनुष्ययोनि न प्राप्त हो। जिस प्रकार तरल तरङ्गिनी श्रोतःसती में यदि कोई मनुष्य डूबजाय तो एक बार वह मनुष्य डूबने के अनन्तर भी जल के ऊपर आजाता है, और यदि उस समय पुरुषार्थ करके वह पुरुष तीरको पहुँच जाय तो बचसक्ता है, नहीं तो पुनः उसके जलमग्न होकर मृत्यु होनेकी सम्भावना रहती है; उसी प्रकार सृष्टिरूप प्रवाहमें बहते हुए जीवको प्रकृति माता कृपा करके एकबारतो अपनी गोदमें उठा कर उन्नत अधिकार रूप मनुष्य

योनि में पहुँचा देती है; परंतु यदि वह इस योनिमें अपने आपको भूल जाय तो पुनः उसका पता लगना बहुत ही कठिन होजाता है । क्योंकि यदि मनुष्य इस उन्नत-अधिकारको प्राप्त करके क्रमोन्नति द्वारा मुक्तिपदकी प्राप्ति न करके, पुनः भ्रमवशात् निम्नयोनिके कर्म्म करने लगे तो उसको जन्मान्तर में अवश्य उसी निम्नयोनिकी प्राप्ति होगी; एवं जड़-अधिकार रूप निम्नयोनियां प्राकृतिक-नियमके आधीन रहनेके कारण पुनः उस जीवकी एकाएक उन्नति होनेकी कोईभी सम्भावना नहीं, अपिच वह पूर्वानु-रूप नाना योनियोंमें भ्रमण करता हुआ तद्पश्चात् मनुष्ययोनिमें आसकेगा । इस कारण मनुष्ययोनिका अधिकार जिस प्रकार उन्नत है उसी प्रकार इस अधिकारमें सावधानताकी भी आवश्यकता है । यह सावधानता सत्वगुणकी वृद्धि करनाही है ॥

त्रिगुणात्मक सृष्टि-प्रवाहमें बहता हुआ जीव चौरासीलक्ष योनियोंमें भ्रमण करता करता अन्तमें चेतन-राज्यका अधिकारी होजाता है । सत्व, रज और तमोगुण में से तमोगुण नरक अर्थात् पाप का कारण एवं सत्वगुण स्वर्ग अर्थात् पुण्य का कारण है; तमोगुण जड़ अर्थात् अज्ञान का रूप एवं सत्वगुण चेतनता अर्थात् प्रकाशमय ज्ञान का रूप है; मध्यवर्ती रजोगुण की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, क्योंकि वह रजोगुण जब तमोगुण की ओर लगा रहता है तब उस की सहायता से तामसिक क्रिया, एवं जब सत्य की ओर लगा रहता है तब उससे सात्विक-क्रिया सम्पादन हुआ करती हैं; रजोगुण केवल क्रिया-शक्ति विशेष है। सत्व गुण एवं तमोगुण में स्वभावतः क्रिया नहीं है केवल रजोगुण की सहायतासे

ही प्रकाशमय सत्व गुण में ज्ञानयुक्त-क्रिया की स्फूर्त्ति होती है; एवं उसी रीति के अनुसार उसी रजोगुण के योगसे तमोगुण में अज्ञान युक्त प्रमाद की क्रिया हुआ करती है। अपिच जड़ एवं चेतन भाव के विचार से, बन्धन एवं मुक्ति के विचार से, और ज्ञान एवं अज्ञान के विचार से तम एवं सत्व गुण यही दोंनों इस स्थल पर विचार करने योग्य हैं। सृष्टिप्रवाह में जब तमोगुण की अधिकता होती है तो वह तमोगुण की पूर्णता का परिणाम ही मृत्तिका आदि स्थावरत्व है, और उस प्रवाह में जब सत्वगुण की अधिकता हो तो क्रमशः सत्व-गुण की पूर्णता के परिणाम से ही अज्ञान रहित परमानन्द (मुक्तिपद) की प्राप्ति हुआ करती है। केवल जड़राज्य से चेतनराज्य का सम्बन्ध एक बार ही छूट जानेसे मुक्तिपद का उदय हुआ करता है। जब तक प्राकृतिक-राज्य रहेगा तबतक क्रियारूपी रजोगुण और ज्ञान और अज्ञानरूपी सत्व और तम गुणोंका न्यूनाधिक सम्बन्ध रहना अवश्य सम्भावी है; परंतु मुक्ति-पदमें इन गुणों की विकार रूप तरंगोंका लेशमात्र भी नहीं रहता; पूर्णज्ञानमय, निःसंग, निष्क्रिय, सत् चित् और आनन्द मय आत्मपद में ही यथार्थ आनन्दकी स्थिति है; परन्तु त्रिगुण--विकार रूप तरंगोंसे उस परमानन्द रूप सागर में भावान्तर होनेके कारण उस समुद्रका रूपान्तरसा प्रतीत होताथा, और इसी कारणसे जीवको बन्धन अव-स्थामें यथार्थ सुखकी प्राप्ति नहीं होती थी। किन्तु अब त्रिगुण–विकार भावरहित होनेके कारण तरंगोंके लोपसे समुद्रके यथार्थ भावका प्रकाश होगया। तरंगोंकी सत्तासे बन्धन–अवस्थामें समुद्रभी तरंग के रूप में ही प्रतीत हुआ

करताथा; तरंग अनन्त हैं इसकारण बन्धन-अवस्थामें जीवको भी नाना भ्रमपूर्ण सुख दिखाई पड़ते थे। परन्तु अब असत् तरंग-समूह सत्‌रूप सागर में लय होजानेसे केवल एकमात्र परमपद रूप परमानन्दसागर की सत्ता रह गई; भ्रमपूर्ण द्वैतभावका नाश होकर पूर्णज्ञानमय अद्वैत-भावकी स्थिति होगई। यही एकमात्र अखंड परमानन्द पद ही "मुक्तितत्त्व" है।

ॐ

॥ श्रीसदाशिवपरमात्मनेनमः ॥

सङ्गीत शास्त्र ।

सनातनधर्म्म में जिस भाँति चार वेद हैं उसी भांति चार उपवेद भी हैं उनमें से गान्धर्व सामवेद का उपवेद है, और यही गान्धर्ववेद ही सङ्गीत-शास्त्र है। "वेदानां सामवेदोऽस्मि" ऐसे वाक्यों से जो सामवेद की महिमा है सो संगीत-शास्त्र की सहायता से ही पाठ किया अथवा गाया जाता है; और यह संगीत के माधुर्य ही का प्रभाव है कि सामवेद और वेदों की अपेक्षा मनुष्यों के हृदयग्राही शीघ्र होते हैं और इसी कारण इनकी इतनी महिमा है।

जहां कुछ क्रिया है वहां अवश्य शब्द होगा। कदाचित् कभी क्रिया की शक्ति के न्यून होने से उसका शब्द अपने कर्णगोचर न होता हो क्योंकि सूक्ष्मतर विषयों को अपनी इन्द्रियगण ग्रहण नहीं करते, परन्तु जहां क्रिया है, जहां कम्पन है वहां किसी न किसी प्रकार का शब्द अवश्य होगा। इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि-क्रिया भी एक प्रकार का

कार्य्य है और समष्टि रूप से उस क्रिया की ध्वनि का नाम प्रणव अर्थात् ओंकार है; शास्त्र में ओंकार-ध्वनि के लक्षण लिखे हैं यथा-

"तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्"

और यह ध्वनि योगीगणों को भली भाँति उस समय स्वतः ही सुनाई देती है कि जब वे अपने मन को बाहिर्विषयों से निरोध करके उस समष्टि रूप में पहुँचा देते हैं। जैसे समष्टि रूप प्रकृति की ध्वनि ओंकार है वैसे ही व्यष्टि रूप नाना प्रकृति के नाना स्वर हैं। और स्वर रूपेण नाना प्रकृति के आविर्भाव करने के अर्थही यह सङ्गीत-शास्त्र बना है। सङ्गीत-शास्त्र में मुख्य सात स्वर रक्खे गये हैं, इसका कारण यह है कि बहिः प्रकृति प्रायः सप्तधा होती है और इसी कारण हमारे शास्त्र में अनेक पदार्थों के सातही विभाग देखने में आते हैं; यथा सप्तरत्न, सप्तधातु, सप्तरंग, सप्तदिन, सप्त भूमिका, सप्त स्वाद के सप्त समुद्र, एवं ब्रह्मविद्या प्रकाशक सप्तदर्शन (अर्थात् सुप्रसिद्ध षड् दर्शन एवं पराभक्ति-प्रदर्शक "भक्ति-दर्शन") आदि पुनः इन्हीं सात स्वरों के तारतम्य से नाना प्रकार की राग रागिनियों की सृष्टि हुई जो कि नाना प्रकार की प्रकृतियों के रूप हैं। मनुष्य के हृदय में जिस प्रकारकी प्रकृति के आविर्भाव करने की आवश्यकता हो उसी प्रकृति के राग वा रागिनियों के द्वारा कोई मन्त्र विशेष वा कविता विशेष के गान करने से अवश्य ही उसके हृदय में वैसी ही प्रकृति की स्फूर्ति होने लगेगी। भैरवराग का रूप वैराग्ययुक्त है और उसके रूप को भी वृषभ-वाहन भस्म-भूषित और जटाकौपीनधारी आदि

स्वरूप से वर्णन किया है, इस कारण यदि कोई मन्त्र अथवा पद उस राग में ठीक रीति पर गान किया जायगा तो अवश्य ही श्रोतागणों में वैराग्य-प्रकृति का आविर्भाव शीघ्रही होगा। इन तत्त्वों के विचार करने सेही भली भाँति प्रतीत होसकता है कि पूज्यपाद त्रिकालदर्शी ऋषियों ने जितने शास्त्र प्रकाशित किये हैं उनकी कैसी गम्भीरता है, और वे कैसी वैज्ञानिक मूलभित्ति पर स्थित हैं।

जिस प्रकार पदार्थ दृश्य और अदृश्य भेद से दो प्रकार के होते हैं उसी प्रकार स्वर भी श्रुत और अश्रुत भेद से दो प्रकार के हुआ करते हैं; अर्थात् जीवइन्द्रिय-शक्ति जिन स्वरों को ग्रहण कर सकती है वह तो श्रुत और जिनको नहीं ग्रहण कर सकती वेही अश्रुत-स्वर कहाते हैं। इसके उदाहरण में समझ सकते हैं कि नाना पक्षी और कीट पतङ्ग आदि नाना भूतों की स्थूल-ध्वनि तो श्रुत-स्वर हैं, और वृक्ष लता आदि के अभ्यन्तर रससञ्चार-क्रिया-शब्द, मनुष्यों में शोणितसञ्चार-क्रिया-शब्द और आकाश में नाना ग्रह-उपग्रह-भ्रमण-क्रिया-शब्द आदिकों को अश्रुत-स्वर समझना उचित है। जैसे सूक्ष्म विचार-दृष्टि से ओंकार को अश्रुत शब्द का आधार कह सकते हैं, वैसेही सप्त-ग्राम को श्रुत शब्दों का आधार कर के मान सकते हैं। शब्द-उत्पत्ति का विस्तारित कारण अन्वेषण करने पर यही कहना पड़ेगा कि कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ द्वारा आहत अथवा चालित होने पर उसके परमाणु-समष्टि में जो एक प्रकार का कम्पन उत्पन्न होता हैं उस कम्पन की शक्ति के अनुसार उस पदार्थ विशेष से स्वर-विशेष की उत्पत्ति हुआ करती है। तत्पश्चात् वह

पदार्थ-परमाणु-कम्पन जब अपने निकटवर्ती वायु को चालित करता है, तब वह कम्पन वायु अथवा और कोई परिचालक द्वारा श्रवण--इन्द्रिय में पहुँचकर स्वर की अनभूति कराता है। इसके उदाहरण में समझ सकते हैं कि जब हम किसी काच के पात्र को किसी यष्टिद्वारा आघात करेंगे तभी उसमें से शब्द की उत्पत्ति होगी, किन्तु वह शब्द तभीतक रहेगा जबतक उस पात्र में कम्पन रहेगा, क्योंकि शब्द होते ही यदि हम पात्र को अपने हस्त द्वारा धारण करके उसके कम्पन को निरोध कर देते हैं तो देखते हैं कि ततकालही उसका शब्द अपने नियमित समय के पूर्वही बन्द होजाता है। वन्शी आदि की ध्वनि में भी वन्शी-स्थित वायुकम्पन द्वारा शब्द उत्पन्न होता है और उसी प्रकार कण्ठ द्वारा भी कण्ठस्थित वायु-कम्पन से गायकगण नाना स्वरों की उत्पत्ति कर सकते हैं। यह पूर्वही कह चुके हैं कि पाञ्चभौतिक इस संसार की प्राकृतिक-अवस्था भित्तिरूपेण सप्तधा विभक्त है, इसकारण श्रुत-स्वर भी सातही प्रकार के होते हैं, और यही सात स्वर सप्त-ग्राम कहाते हैं। इन ग्रामों के नाम षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद हैं; जिस प्रकार अश्रुत--स्वर के मूलरूप "ओंकार" की सहायता से नाना मन्त्र द्वारा प्रकृति चालित की जाती है, उसी प्रकार श्रुत--स्वर के मूल रूप सप्त--ग्राम की सहायता से नाना राग रागिनियों की उत्पत्ति द्वारा नाना दृश्य प्रकृति का आविर्भाव किया जा सकता है। अर्थात ओंकार मूलक नाना मन्त्र द्वारा जैसे आध्यात्मिक जगत में अपनी शक्ति बिस्तार की जा सकती है वैसे ही सप्त ग्राम मूलक नाना राग रागिनियों की सहायता से भौतिक जगत

में अपनी शक्ति द्वारा गायक नाना प्रकृतियों का आविर्भाव कर सकता है। इस प्रकार अद्भुत शक्ति-शालिनी वैज्ञानिक-भित्ति पर स्थित होकर पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगणों ने त्रिताप तापित जीवगणों के हितार्थ मधुर सङ्गीत-विज्ञान की सृष्टि की थी॥

श्रीमतंग ऋषि ने मतंग-संहिता में लिखा है कि सृष्टि के आदि काल में जब श्रीभगवान् सदाशिव और पार्वती जी एकत्र बैठकर जीवों की अवस्था पर ध्यान कर रहे थे उसी समय जीवों के हितार्थ श्रीमहादेवजी के पंच मुख से पंच राग और श्रीपार्वतीजी के मुख से एक राग, अर्थात् प्रथम इस रूप से छः रागों की उत्पत्ति हुई; यथाः—

"शिवशक्त्याःसमायोगाद्रागाणांसम्भवोभवेत् ।
पञ्चस्यात्पञ्चरागाःस्युःषष्ठयस्तुगिरिजामुखात् ॥"

पुनः श्रीभगवान् गिरिजापति से इन छः रागों को पितामह ब्रह्मा ने सीखा और तदनन्तर वेदों को प्रकाशित किया, और इस कारण ही वेदों से इस शास्त्र का इतना निकट सम्बन्ध है। पितामह श्रीब्रह्मा जी ने पुनः छत्तीस रागिनियों की सृष्टि की और प्रथम में संगीत-शास्त्र की नारद, तुम्बुरु और रम्भा इन तीनों को शिक्षा दी। आदि में जो छः रागों की उत्पत्ति हुई थी उन छहों का नाम भैरव, मेघ, पंचम, श्रीनटनारायण और वसन्त राग हैं, परन्तु इन नामों के विषय संगीत-संहिताओं में कहीं २ मत भेद भी पाया जाता है, अर्थात् कोई कोई आचार्य्य पंचम, नटनारायण और वसन्त राग के स्थान पर मालकोश, दीपक चार, हिंडोल को आदि राग करके मानते हैं, परन्तु ऐसा भेद होने पर भी मूल विचार में कोई भी

हानि नहीं है। इन छः मूल रागों से भगवान् ब्रह्मा जी ने जो छत्तीस मूल रागिनियों की सृष्टि करके उनको इन छःरागों की स्त्री रूपेण निहित किया था उनके नाम संहिताओं में पाये जाते हैं यथा,–भैरव राग की भैरवी, बंगाली, सैन्धवी, रामकेली, गुर्ज्जरी और गुणकेली ये छः स्त्री हैं। श्रीराग की मालश्री, त्रिवेणी, गौरी, केदारी, मधुमाधवी और पहाड़ी स्त्री हैं। वसन्त राग की देशी, देवगिरी, वैराटी, टोड़िका, ललिता और बहारी स्त्री हैं। पंचमराग की विभागा, भूपाली, कर्नाटी, पटहंसिका, मालवी और पटमंजरी स्त्री हैं। मेघराग की मल्हारी, सोरठी, सायेरी, कौशिकी, गान्धारी और हरशृंगार स्त्री हैं। और नटनारायण की कामोदी, कल्याणी, आभीरी, नाटिका, सारंगी और हम्बीरी स्त्री हैं। इन छःराग और छत्तीस रागिनियों के अनन्तर ब्रह्माजी के शिष्यगण द्वारा अड़तालीस उपराग और २८८ उपरागिनियों की सृष्टि हुई थी और तत्पश्चात उनके शिष्य-परंपरा वा आचार्य्य गण द्वारा उपराग और उपरागिनियों की संख्या बहुत ही विस्तार को प्राप्त होगई थी। शास्त्रों में लेख है कि उन ब्रह्माजी के प्रथम तीन शिष्य द्वारा त्रिविद्या अर्थात गान, वाद्य और नृत्य इन तीन विद्याओं की सृष्टि हुई, जिसमें से महर्षि नारद तो गान, तुम्बुरुऋषि वाद्य और अप्सरा रम्भा नृत्य-विद्या के प्रकाशक हुए। संहितान्तर में ऐसा भी लेख है कि पितामह श्री ब्रह्माजीने प्रथम में नारद, रम्भा, तुम्बुरु, हूहू और भरत इन पांच शिष्यों को सङ्गीत विद्या सिखाई. जिनमें से नारद और भरतजी तो गान्धर्ववेद की सृष्टि कर वेदों का विस्तार करने लगे, और हूहू गन्धर्व गानविद्या, तुम्बुरु वाद्यविद्या और रम्भा नृत्यविद्या के

अध्यापक हुए। और उन प्रत्येक पांच शिष्यों ने एक एक सङ्गीत-शास्त्र की संहिता प्रणयन की, और पुनः बहुतसी राग रागिनियों की सृष्टि कर इस सङ्गीत-विद्या की बहुत ही उन्नति साधन की;परन्तु यहतो सब मतावलम्बी ही मानते हैं कि महर्षि नारद संगीत-शास्त्र के प्रधान आचार्य्य थे; और तुम्बुरु ऋषि वाद्यविद्या के आचार्य्य और रम्भा नृत्य विद्या के आचार्य्य हुए; इन तुम्बुरु ऋषिही ने प्रधान वाद्य-यन्त्र तम्बूरा की सृष्टि की थी। ऋषिकाल में इस विद्या की इतनी उन्नति हुई थी कि उसका जो कुछ वर्णन शास्त्रों में पाया जाता है उसके पाठ करने से एक बड़ाही आश्चर्य्यसा प्रतीत होता है। उस समय षोड़श सहस्र राग रागिनियां गाई जाती थीं, और जिन के साथ तीनसौ छत्तीस प्रकार के ताल बजते थे; अब उन सोलह सहस्र रागिनियों में से बीस पचीस रागिनियों को वर्त्तमान गायकगण जानते हैं सो भी असम्पूर्ण रीति से हैं और तीनसौ छत्तीस के स्थान में अब केवल पांच सात तालही बजाये जाते हैं; और प्राचीन नृत्य-विद्या की रीति तो जाती हो रही है क्योंकि नवीन नृत्य-विद्या से प्राचीन नृत्य-विद्या का कोई भी सम्बन्ध नहीं देख पड़ता, इसकारण आज कल की त्रिविद्या अर्थात् सङ्गीत, वाद्य और नृत्य को देखने से प्राचीन भारत के उन्नत सङ्गीत-शास्त्र का कुछ भी अनुमान नहीं किया जासकता। जैसे कराल काल के प्रभाव से भारत की और सब विद्याएं लुप्त प्राय होगई हैं वैसेही यह स्वर्गीय माधुरी विद्या भी लोप हो रही है॥

जिस भांति आजदिन यूरोप ने और और नाना विद्याओं में उन्नति साधन की है यदिच उसी भाँति सङ्गीत-विद्या में भी उन्होंने बहुत ही उन्नति की है, तत्रच यूरोप की

नवीन सङ्गीत-विद्या और भारत की प्राचीन सङ्गीत-विद्या में बहुत ही अन्तर है। यूरोप की सङ्गीत-विद्या का बहिर्लक्ष्य है, परन्तु भारत के सङ्गीत का अन्तर्लक्ष्य था। यूरोप की सङ्गीत-विद्या की भित्ति शिल्पनैपुण्य है, परन्तु प्राचीन आर्य्यों की संगीत-भित्ति गम्भीर-विज्ञान थी। नवीन यूरोप ने वैषयिक आनन्द के अर्थ ही संगीत की उन्नति की है, परन्तु प्राचीन भारत ने इस माधुरी विद्या को आत्मोन्नति का पथ रूप करके माना था। मनुष्य द्वारा सप्त-ग्राम जितना गाया जा सकता है उतने ही ग्रामों में प्राचीन आर्य्यगण संगीत को गाया करते थे, अर्थात् तीन ग्रामों के अतिरिक्त प्राचीन आर्य्य गण व्यवहार नहीं किया करते थे; परन्तु आजदिन यूरोप में नाना वाद्य द्वारा आठ दश अथवा ततोधिक सप्तक व्यवहार में आते हैं। यह पूर्व ही सिद्ध हो चुका है कि पूज्यपाद महर्षिगण मनुष्य गणों के हृदय में नाना समय नाना प्रकृतियों के आविर्भाव करने के अर्थ ही अनन्त राग रागिनियों का अन्तर्विज्ञान-कौशल पूर्ण प्रकट कर गये हैं, परन्तु यूरोप के सङ्गीत में वैसी कोई भी शैली देख नहीं पड़ती, वे केवल प्रत्येक गीत क्रम अर्थात् गतों के स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूपेण काल्पनिक नाम रख दिया करते हैं। मानवीय प्राकृतिक शक्ति की उन्नति द्वारा कण्ठस्वर साधन से गान करने की अलौकिक रीति जैसे प्राचीन आर्यगणों ने आविष्कार की थी. वैसी रीति यूरोप-वासी गण जानते ही नहीं, यूरोप में जो कुछ उन्नति हुई है वह अस्वाभाविक यन्त्र द्वारा ही हुई है; गान की उन्नत रीति उनकी सङ्गीत-विद्या में है ही नहीं। जिस प्रकार नाना तालों की विचित्र रीति और लय-ज्ञान का सूक्ष्म कौशल भारतीय सङ्गीत में है, उस प्रकार ताल और लय की

सूक्ष्मता आजदिन तक यूरोपवासी नहीं जानते हैं, और नृत्य-विद्या की तो बातही नहीं,क्योंकि प्राचीन नृत्य-विद्या का जो कुछ वर्णन शास्त्र द्वारा देखने में आता है उसका नाम मात्र भी यूरोप के सङ्गीत-आचार्य्यगणों को ज्ञात नहीं है। और इन सब विचारों के उपरान्त आर्य्य सङ्गीत-शास्त्र में जिस प्रकार षड्ऋतु विचार, दिवारात्रि विचार, प्रहरयामार्द्धविचार, देशकाल विचार, और प्रकृति और प्रवृत्ति विचार के साथ अनन्त राग रागिनियों का विभाग किया गयाहै उस विज्ञान की सूक्ष्मता आज दिन तक यूरोपीय आचार्य्यगण समझ नहीं सके हैं। इतिहासज्ञ पंडितगण मात्रही जानते हैं कि ग्रीकगण द्वारा भारत-आक्रमण के अनन्तर ही भारतवर्ष की सङ्गीत-विद्या लोप होगई; परन्तु ग्रीक गण के भारत आगमन के पश्चातही ग्रीस में सङ्गीत आदि नाना विद्याओं की उन्नति हुई थी; और तत्पश्चात् ग्रीस से रूम में और रूम से समस्त यूरोप में सङ्गीत-विद्या का प्रचार हुआ था; इन प्रमाणों द्वारा भारतीय सङ्गीत-शास्त्र का आदित्व प्रमाणित होता है, और यह भी प्रमाणित होता है कि यूरोपीय सङ्गीत-आचार्य्यगण भारतीय सङ्गीत-आचार्य्यगणों के शिष्य परंपरा से ही हैं; परन्तु भेद इतनाही है कि भारतीय सङ्गीत-विद्या अन्तर्जगत् में भ्रमण करती हुई भगवत्पदारविंद में जा मिली थी, किन्तु यूरोपीय सङ्गीतशास्त्र केवल जड़जगत् मेंही विचरण कर रहा है। कोई २ यूरोपीय सङ्गीत पक्षपाती महाशयगण ऐसा कहते हैं कि यन्त्र-विद्यामें जैसी यूरोपीय सङ्गीत ने उन्नति की है वैसी भारतवर्ष ने नहीं की थी; इसके उत्तर में यदि यह स्वीकार करने के योग्यही है कि आजदिन यूरोप में अगणित सङ्गीत-यंत्र बजाये जाते हैं, तत्रच सूक्ष्मदृष्टि से यह माननाही पड़ेगा कि उन यंत्रों के

आविष्कार में भारतवर्ष ही आदि गुरु है। भारतवर्ष का वीणा-यन्त्र देखने से कौंन बुद्धिमान् उसका श्रेष्ठत्व और आदित्व स्वीकार नहीं करेगा; और कौंन विचारज्ञ यह नहीं परख सकेगा कि पियानो आदि लौहतारमय यन्त्र उसी के अनुकरण और उदाहरण पर बनाये गये हैं। पुनः मृदङ्ग, रुद्रवीण, और वन्शी आदि यन्त्रों के देखने से उनके आदित्व और श्रेष्ठत्व में किसी को भी सन्देह नहीं होगा; और सूक्ष्म विचार से यह भी जान पड़ेगा कि मृदङ्ग आदि यन्त्र के अनुकरण पर यूरोप के ड्रम आदि यन्त्र, सरङ्गी यन्त्र के अनुकरण पर भायोलिन यन्त्र, सहनई यन्त्र के अनुकरण पर क्लीरियोनेट यन्त्र, तूरी भेरी नरसिंहा आदि यन्त्रोंके अनुकरण पर कईएक यूरोपीय समरवाद्य यन्त्र-रुद्रवीण के अनुकरण पर वैगपाईप यन्त्र, और वन्शी आदि यन्त्रों के अनुकरण पर फ्लूट आदि यन्त्र बनाये गये हैं। यन्त्रों की संख्या चाहे अब बहुतही बढ़गई हो परन्तु सङ्गीत-विज्ञान की उन्नति में सकल प्रकार से यूरोप को प्राचीन भारत सेही सहायता मिली थी इसमें कोई भी सन्देह नहीं। विशेषतः प्राचीन आर्य्यगणों के सङ्गीत-यन्त्रों में पूर्णता, श्रेष्ठता और विशेषता यह है कि उनका प्रकाशित मृदंग जिस भाँति सब स्वरों में बजाया जासकता है उसप्रकार यूरोपीय तालरक्षक यन्त्र नहीं बजाये जा सकते; और जिस प्रकार कोमल, तीव्र, अति कोमल, अति तीव्र स्वर आदि स्पष्ट रूपेण वीणा आदि यंत्रों में प्रकाशित किये जा-सकते हैं, उस प्रकार पूर्णता के साथ पियानो अथवा हार्मोनियम आदि यंत्रों में कदापि नहीं प्रकाशित हो सकते। अब आजदिन भारतवर्ष के संगीत की चाहे कैसी ही हीन दशा हो गई हो तो भी विचारवान् पंडित-

गण यह मुक्तकण्ठ होकर कहेंगे कि भारतवर्ष ही संगीत-शास्त्र का आदि गुरु है; भारतवर्षीय संगीत ही किसी समय पूर्णता को प्राप्त हुआ था; और भारतवर्ष के आर्य-गणों का संगीत ही जीवगणों को भगवत्-भजन में पूर्ण रूपेण सहायता करसकता है ॥

जबतक पूज्यपाद ऋषिगणों का आविर्भाव इस संसार में बना रहा तबतक इस शास्त्र की पूर्ण उन्नति बनी रही, अब पुनः उनके तिरोभाव के अनन्तर जब जीवों की शक्ति कुछ घट गई, तब इस विद्या में भी न्यूनता होगई। ऋषि-काल में वेदपाठ आदि सब आध्यात्मिक कर्मों के साथ जब इस विद्या का गाढ़तर सम्बन्ध रहा उस समय इस विद्या को मार्गविद्या कहा करते थे, पुनः संगीत-शास्त्र का प्राचीन रीति को मनुष्यगण अपनी शक्तिहीनता से जब भूलगये और नवीन रीति प्रचलित हुई उस समय यह विद्या देशी-विद्या कहाई; अर्थात् वैदिक प्राचीन रीतिकी 'मार्ग' और नवीन रीति की 'देशी' संज्ञा है। संहिताओं में लेख है कि मार्ग--विद्या आचार्य्य-गणों के तिरोभाव के संगही पृथ्वी से लुप्त होकर स्वर्ग में जा रहेगी, और यहां केवल देशी-विद्या प्रचलित रहेगी; अब इस भविष्यत्-वाणी का ही फल है कि मार्गविद्याको भारतवासी एक बार ही भूल गये। तदनन्तर देशी-विद्या की उन्नति होती रही, और जबतक सम्राट सिकन्दर भारतवर्ष जय करने के अर्थ इस भूमि में नहीं आया था तबतक इस नवीन-विद्या के आचार्य्यगण भारतवर्ष में वर्त्तमान रहे; यदिच बौद्ध-विप्लव के समय ही इस विद्या की बहुत ही हानि होचुकी थी, तत्रच इस समय तक कोई कोई इस विद्या के आचार्य्य मिलते रहे; परन्तु देशी-

विद्या की पूर्ण हानि का समय इसी काल को समझना उचित है। इसी समय के अनन्तर भारतवर्ष पर विदेशीय राजागणों का आक्रमण दिन पर दिन बढ़ता रहा, और कुछ दिनों में भारतवासियों ने एकबार ही अपने स्वाधीनता रत्न को यवन सम्राटों के निकट विक्रय कर-दिया; इसी राज-विप्लव के संग ही संग भारतवर्ष की और और बहुतसी विद्याओं के सहित यह संगीत-विद्या भी लुप्तप्राय होगई। प्रकृति त्रिगुणमयी है, सृष्टि सत और असत भाव से भरी हुई है, इस कारण गुणग्राही अच्छे मनुष्य सब सम्प्रदायों में ही होते हैं; भारतीय यवन सम्राटों में तुग़लक़ वन्श के सुल्तान मुहम्मदशाह जोकि एक बहुत ही गुणग्राही और धार्मिक भारत-सम्राट थे, उन्हों ने अपने शासनकाल में इस विद्या की पुनः उन्नति की, और उसी समय बैजू, बावरा, गोपाल और खुशरो आदि गायकों का जन्म हुआ। तदनन्तर जब बुद्धिमान् अकबर बादशाह भारतसिंहासन पर आरूढ़ हुए, तब उन्हों ने भी अपनी गुणग्राहिता बुद्धि से पुनः इस विद्या की विशेष सहायता की, और उसी समय भारतवर्ष में तुलसीदास, सूर-दास, स्वामी हरिदास और उनके शिष्य तानसेन आदि प्रकट हुए। यदि भारतवर्ष में इन दोनों सम्राटों का जन्म न होता अथवा यह दो यवन सम्राट इस विद्या के सहायक न होते तो रही सही यह देशी-विद्या भी भारतवर्ष से लुप्त होकर मार्ग-विद्या की नाईं स्वर्गवासिनी होरहती। इस समय में इस विद्या की उन्नति तो हुई परन्तु इस देशी-विद्या ने कुछ औरही नूतन रूप धारण कर लिया, और इसी समय के अनन्तर सङ्गीत-विद्या अब केवल विला-सिता का ही एक अङ्ग समझा जाया करता है। वेद-मंत्रों को

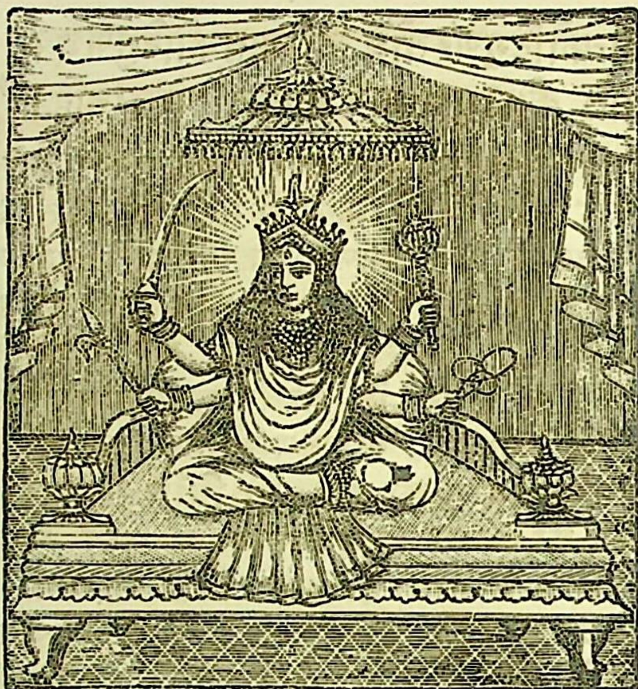
सङ्गीत-शास्त्रके अनुसार गान करने कोही मार्ग-विद्या कहते थे, और संस्कृत अथवा भाषा भगवत्-भजन अर्थात् ध्रुव-पदों को उस अनुकरण से गाने को ही देशी-विद्या कहते हैं; परन्तु अब काल प्रभाव से मार्गविद्या तो लुप्त ही होगई है, और देशी-विद्या ने भी विकृत होकर ख्याल, टप्पा, ठुमरी आदि नाना रूपों को धारण कर लिया है। मार्ग-विद्या में जो बात थी वह देशी-विद्या में न रही, और पुनः प्राचीन देशी-विद्या में जो बात थी वह बात नवीन संगीत में नहीं रही। संगीत का औपपत्तिक अंश (Theoritical) तो भारतवर्ष से अब जाता ही रहा है, परन्तु जो थोड़ा सा रहा सहा क्रियासिद्ध अंश (Practical) अब भी शेष रह गया है, वह भी भारतवासियों की अनवधानता से लोप होने योग्य होगया है। भारत रत्नगर्भा है, इस भूमि में रत्न प्रकट ही होते रहते हैं; इस बीच में श्रीमान् केदारनाथदत्त नाम से एक संगीत-आचार्य्यरत्न प्रकट हुए थे, जो वंगदेशवासी थे परन्तु बहुत दिनों से अन्तर्वेद प्रदेश में रहा करते थे, इनका संगीत-शास्त्रज्ञान बहुत ही बढ़ा हुआ था और वे संस्कृत-साहित्य एवं अंग्रेज़ी भाषा में भी विशेष पंडित होने के कारण इस विद्या के औपपत्तिक अंश को भी समझते थे। अपनी जीवितावस्था में इस गुणग्राही विद्यानुरागी देशहितैषी पुरुष ने इस विद्या की उन्नति में बहुत कुछ पुरुषार्थ किया था; परन्तु ऐसे बृहत् कार्य्य की उन्नति विना राजकीय सहायता के नहीं हो सकती, इसकारण विशेष यत्न करने पर भी वे सफल मनोरथ नहीं होसके। काल-माहात्म्य के कारण उनके स्वर्गवास होने पर भारत की वह आशा भी जाती रही॥

पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षियों ने लिखा है, किः—

"पूजात्कोटिगुणंस्तोत्रं स्तोत्रात्कोटिगुणंजपः ।
जपात् कोटिगुणं गानं गानात् परतरंनहि ॥"

अर्थात् ईश्वर उपासना गान द्वारा जिस प्रकार हो सकती है उस प्रकार और किसी क्रिया से नहीं हो सकती । नारद, शांडिल्य आदि भक्ताग्रगण्य महर्षिगणों ने इस बात को भली भांति सिद्ध कर दिया है कि गान द्वारा ही उपासक-भक्त अति शीघ्रही आनन्द को प्राप्त कर सकते हैं, और इसीकारण इस समय के श्रीचैतन्य महाप्रभु और श्री-वल्लभाचार्य्य प्रभृति वैष्णवधर्म्म-प्रचारकगणों ने भी अपने अपने सम्प्रदाय की उपासना विधि में गान को ही मुख्य रखने की आज्ञा दी है । स्वर के साथ प्रकृति का कैसा अविमिश्र सम्बन्ध है, और किस लक्ष्यपर प्राचीन संगीत-विद्या की सृष्टि हुई थी सो पूर्व्व ही विचार द्वारा दिखा चुके हैं; भावक साधक को सकल प्रकृति-विस्तार स्वरमय दिखाई देता है, और तब ही वे कहते हैं कि "स्वरोब्रह्मनसंशयः"; और इसी लक्ष्य पर स्थिर होकर भक्त कवियों ने गाया है, (गीत)

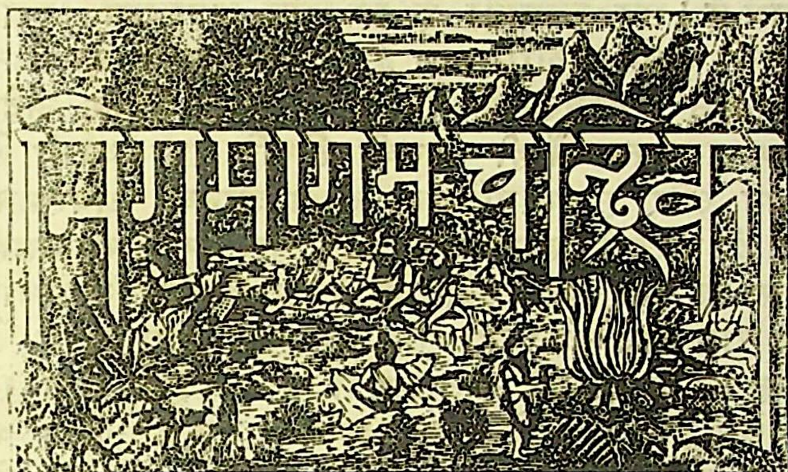
"भुवन मोहि लियोरे भुवनमोहिनी !
गावत है ग्राम ग्राम में, सा, रि, गा, मा, पा, धा, नि ॥१॥
जीव शरीरयंत्र से, सुषुम्णादि तीन तंत्र से,
बजावत है गुण भेद से तीन ग्राम संचारिनी ॥ २ ॥
छःरूप हो छःचक्रबीच, नाचहिं ताल कर ऊंच नीच,
संग ले छःराग रागिनी छत्तीस नाना रूप प्रकाशिनी॥३॥
रे भ्रान्त ! कर षट् चक्र भेद, रहित हो वह भेदाभेद,
पहुंच वहां नहिं पहुंचत जहां यह सर्व्वनाशिनी ॥ ४ ॥



रागिनी सोहिनी, ताल झांपताल ।

कभूं श्याम कभूं श्यामा, कभूं पुरुष कभूं वामा ।
कभूं कृपान लेओहाथ, कभी मुरलिधारी ॥ १ ॥
कभूं निज तनु कर आधा, मोहो गुनवती राधा ।
कभूं शिवशवपर उलंगिनी नारी ॥ २ ॥
कभूं अट्ट अट्ट हासत, दानवकुल त्रासत ।
कभूं बांकेनैंनन मोहो ब्रजनारीसारी ॥ ३ ॥
वही पुरुष वही नारी, उनकी है विभूति सारी ।
दश महाविद्यासे हैं दशअवतारी ॥ ४ ॥

ॐ नमोभगवतेवासुदेवाय ।



शरदृतुः—कलाब्दाः ४९९८.

भाग २	आश्विन एवं कार्तिकमास.	संख्या ४

पुस्तकोद्धार ।

सर्व हृदयविहारी, सर्व हितकारी, जीव-त्रितापहारी श्रीभगवान् की कृपाकटाक्ष सेही ज्ञान-ज्योति का प्रकाश हुआ करता है। जीव अपने मलिन-कर्म्मोंके वश होकर दुर्दमनीय प्राकृतिक नियमके अनुसार अज्ञानरूप जड़ता में फँसाकरता है; परन्तु परमकारुणिक परमात्मा परमेश्वर की कृपासे ही पुनः ज्ञानका अधिकारी होकर परमानन्द-मय पदकी ओर अग्रसर होसक्ता है। जीवगणों में जीव-

हितकारी ज्ञान सदा बना रहता है; क्योंकि ज्ञान नित्य पदार्थ है। भेद इतनाही है कि सृष्टि–अवस्थामें अर्थात् जीवकी बन्धन–दशामें ज्ञान द्वैतभावको धारण कर लेता है, किन्तु मुक्तावस्थामें द्वैतभावका लय होकर अद्वैत रूपेण परमात्मा में ही ज्ञानकी स्थिति रहा करती है; बन्धन और मुक्तभावविचार द्वारा ज्ञानकी अवस्थाका कुछ ही परिवर्तन होना सम्भव हो परन्तु यह माननाही पड़ेगा कि ज्ञान नित्य पदार्थ है। सृष्टि–विस्तार अवस्थामें एक मात्र ज्ञान द्वारा ही सृष्टि का भान हुआ करता है; किन्तु उस अवस्थामें उन्नत अथवा नत जो कुछ ज्ञान रहे वह सब द्वैत–ज्ञान ही रहेगा। प्रथमतः उस द्वैत–ज्ञान को दो भागमें विभक्त करके जीवगणों की दो संज्ञा कर सक्ते हैं यथा–जड़राज्य के जीव एवं चेतन–राज्यके जीव। पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदिगण जड़राज्य के जीव हैं; क्योंकि यह जीवगण अपने अपने ज्ञान द्वारा जो कुछ कार्य्य करते हैं वह प्रकृतिके आधीन होकर ही किया करते हैं; उदाहरण–स्थलपर समझ सक्ते हैं कि जड़–राज्यके जीवगणोंके आहार निद्रा मैथुन आदि क्रिया केवल उसी नियमसे होसक्ती हैं कि जिस नियमसे उनकी प्रकृति कराती आई है; उनके स्वभाव में और नूतन कुछ भी परिवर्तन होना सम्भव नहीं। एवं मनुष्यगण को ही चेतन-राज्य का जीव करके मान सक्ते हैं; क्योंकि अपने ज्ञानकी उन्नतिके कारण यथाशक्ति मनुष्यगण अपनी प्रकृति पर आधिपत्य कर सक्ते हैं। द्वितीयतः श्रीभगवान् ने कृपा परवश हो जीवश्रेष्ठ मनुष्यगणों को इतना अधिकार दे दिया है कि वे जितना चाहें उतनी ही अपने ज्ञानकी वृद्धि कर सक्ते हैं; उनका अधिकार इतना उन्नत रक्खा

गया है कि वे अपने पुरुषार्थ द्वारा क्रमोन्नति करते हुए शेषमें ज्ञानकी अद्वैत अवस्थाको प्राप्त करके परमात्मा ब्रह्ममें लय होकर मुक्त हो जा सक्ते हैं।

ज्ञान नित्य है। एवं अभ्रान्त प्राकृतिक-नियमके अनुसार उस नित्य पदार्थ ज्ञानकी क्रमोन्नति अर्थात् विकाश मनुष्य गणों में होना भी अवश्य सम्भावी है। जब एकमात्र ज्ञान द्वारा ही परमानन्द की प्राप्ति होना सम्भव है, तब यह भी मानना ही पड़ेगा कि केवल उन्नत मनुष्यों में ही ज्ञानका विकाश होना सम्भावी है। परन्तु भेद इतना ही है कि जबतक मनुष्यगणोंके मलिन-कर्म्म की अधिकता बनी रहती है तबतक उनमें ज्ञान-ज्योति का प्रकाश न्यून होना सम्भव है; परन्तु जब जब उनके शुद्ध कर्मों का फल उदय होता है तब ही उनमें ज्ञान ज्योतिका प्रकाश भी होजाया करता है। इसी अकाट्य प्राकृतिक नियमके अनुसार पृथिवी मंडलपर कभी तो ज्ञानका अप्रकाश और कभी ज्ञान-ज्योतिका विशेष विकाश देखने में आया करता है। एवं अनादिसिद्ध सृष्टि-नियमके अनुसार ही सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुगकी सृष्टि हुआ करती है, और पुनःइन प्रत्येक युगोंमें अन्तर्विभाग रूपेण चारों युग ही रहा करते हैं; इसहेतु प्राकृतिक-नियम के अनुसारजीवगणोंके कल्याणार्थ ज्ञानका प्रकाश होना अवश्य सम्भावी होनेके कारण से ही श्रीभगवान् ने समय समय पर स्वयं भी अवतार ग्रहण द्वारा वेद एवं वेद-सम्मत शास्त्रों का उद्धार किया है। श्रीमत्स्य अवतार एवं श्रीहयग्रीव अवतार द्वारा वेद की रक्षा, और कृष्णद्वैपायन श्रीवेदव्यास रूप विष्णु-अवतार एवं श्री शङ्कर रूप शिव-अवतार आदि द्वारा वेद-विभाग एवं वेदसम्मत शास्त्रों की रक्षा होती

रही है । तदनन्तर श्रीभोज एवं श्रीविक्रम आदि राजविभूति द्वारा भी शास्त्र संरक्षण की बहुत ही सहायता हुई है इस में कोई भी सन्देह नहीं। इसी नित्य-सिद्ध श्रीभगवत्-प्रतिष्ठित-नियम के अनुसार वर्त्तमान एवं भविष्यत् काल में भी ज्ञान का विकाश होना अवश्य सम्भावी है । भूतकाल में जीव-हितकारी श्री भगवान् ने जिस प्रकार अवतार धारण करके स्वयं ज्ञानरूप वेद का उद्धार किया है, एवं अपनी विभूतियों द्वारा भी जिस प्रकार विद्या की रक्षा एवं उन्नति कराते आये हैं; उसी प्रकार वर्त्तमान् एवं भविष्यत्काल में भी होना सम्भव है। कराल कलिकाल के वर्त्तमान् विकराल भाग में भी क्वचित् अस्तव्यस्तरूपेण इस आवश्यकीय कार्य्य की सिद्धि होती रही है; उदाहरण स्थल पर समझ सक्ते हैं कि भारतवर्ष में यवनसाम्राज्य के समय क्षत्रियरत्न श्री सवाई जयसिंह आदि राजागण द्वारा कुछ कार्य्य हुआ है, एवं तदूपश्चात् वर्तमान् अंग्रेज़-साम्राज्य में भी अपनी भारतीय गवर्नमेन्ट तथा यूरोपीय कई एक "ऑरियंटलिस्ट" Oreantalist व्यक्तियों एवं सभाओं द्वारा संस्कृत-पुस्तक संग्रह रूपसे कुछ थोड़ा बहुत कार्य्य होता आया है । परन्तु जो कुछ कार्य भगवत्-अवतार अथवा भगवत्-विभूति द्वारा अभ्रान्त रूपेण सिद्ध होसक्ता है, साधारण मनुष्य द्वारा उस कार्य्यका उतना साधन होना कदापि सम्भव नहीं है । साधारण मनुष्य गण जो कुछ कार्य्य करते हैं सो अपने २ अहंकार एवं स्वार्थके वशीभूत होकर ही किया करते हैं; मनुष्यगण साधारण रूपसे चाहे परोपकार ही क्यों न करें किन्तु उनके अन्तःकरणों में अहंकार का केन्द्र रहने के कारण स्वार्थ सम्बन्ध से बहुत ही फेर पड़ जाया करता है; परन्तु ज

कार्य्य भगवद्-प्रेरणा से भगवद्-विभूति द्वारा हुआ करता है उस कार्य्य में इस प्रकार के भय रहने की सम्भावना नहीं । साधारण मनुष्यगण द्वारा ज्ञानोन्नति विषयक कार्य्यों में मुख्य प्रयोजन सिद्ध होना सम्भव नहीं; किन्तु जब भगवद्-प्रेरणा से यथावत् रूपेण कार्य्य होता है तब ही जीव-त्रितापहारी-ज्ञान का संरक्षण एवं प्रचार हुआ करता है ।

अनिष्ट की निवृत्ति और इष्ट की प्राप्ति के अर्थ यावन्मात्र जीव सदा तत्पर देख पड़ते हैं । इस संसार में यथार्थ इष्ट क्या है इस के अनुसंधान करने की यहां पर कुछ आवश्यकता नहीं है; परन्तु इतना स्वीकार करना ही पड़ेगा कि सब जीवगण अपनी २ प्रकृति एवं प्रवृत्ति के अनुसार अपनी इच्छा अनुयायी इष्ट की प्राप्ति एवं अपनी ही इच्छा के अनुसार अनिष्टकी निवृत्ति में सदा लगे रहते हैं।केवल इसी दुर्दमनीय वृत्ति द्वारा जीवगण पुरुषार्थ से कर्म्म-प्रवाहमें बहते रहते हैं । अब विचारने योग्य है कि मनुष्यगणों के अर्थ साध्य वस्तु क्या क्या है ? नीतिशास्त्र ने कहा है कि "धर्म्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते । अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्म निरर्थकम्" सूक्ष्म विचार द्वारा भी यही प्रतिपन्न होता है कि धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विचार से चार प्रकार की इच्छा जीवगणों में हुआ करती है मनुष्यगणों की यावन्मात्र इच्छाओंको इन्हीं चार विभागमें विभक्त कर सके हैं।पुनःजब साध्य चार प्रकार का होना सम्भव है तो साधन भी चारही प्रकारका होगा इसमें भी सन्देह नहीं।शास्त्रकारोंने साधनके चार भेद वर्णन किये हैं यथा-विद्या, बल, धन और धर्म्म । एवं जब चार प्रकार का साध्य और चार प्रकार का साधन

हुआ करता है तो चार प्रकार का कर्त्ता होना भी सम्भव है। इसी अभ्रान्तनियम के अनुसार शास्त्रकारोंने चार प्रकार के कर्त्ताओं का नाम भी वणन किया है यथा-कर्त्ता, अनुकर्त्ता, उपकर्त्ता और अधिकर्त्ता। साध्य, साधन और साधक रूप त्रिकुटी मिलकर फलकी सिद्धि हुआ करती है। यदिच यह चारों प्रकारके अधिकार ही अपनी २ अधिकारभूमि के अनुसार यथावत् ही हैं तत्रच ज्ञानोन्नति विचार द्वारा इनकी भूमिको उन्नत और नत अवस्थाओं में विभक्त कर सक्ते हैं। सूक्ष्म-बुद्धि द्वारा अनुसंधान करने से यही सिद्धान्त होगा कि ज्ञान-परिणामरूप विद्याही पुरुषार्थ विचारसे परम हितकारी समझी जासक्ती है। यदिच धर्म्म-लक्षही सब प्रकारके लक्षों में श्रेष्ठ समझा जा सक्ता है तत्रच यह मानना ही पड़ेगा कि बिना विद्याके धर्म्म-लक्षकी पूर्णता प्राप्त होना असम्भव है। यदि धर्म्मसाधन के भक्तिमार्ग पर दृष्टिनिक्षेप किया जाय तो यही सिद्धान्त होगा कि ज्ञानरूप विद्या द्वारा ही भक्तिकी दृढ़ता हुआ करती है; क्योंकि जब भक्तको विद्या की सहायता से श्रीभगवान् के यथार्थ स्वरूपका जितना ज्ञ.न बढ़ता जायगा उतनी ही भक्त में भक्तिकी दृढ़ता होती जायगी। इसी प्रकार जब कर्म्मकाण्डकी ओर दृष्टि फेरते हैं तो यही सिद्धान्त होता है कि बिना विद्या की सहायता के विहित-कर्म्मकाण्डोंमें उन्नति करना असम्भव है; जब तक विहित और अविहित रूप से कर्म्मों का विचार एवं कर्म्म-साधन की शैली विद्या की सहायता से नहीं जानी जायगी तबतक कर्म्मी कदापि कर्म्मकाण्डमें यथावत् उन्नति नहीं कर सक्ता। एवं धर्म्म के योगआदि साधन-विभागमें और ज्ञान-अधिकारमें तो

विद्या ही प्रधान अवलम्बनीय है। इन विचारों से यही प्रतिपन्न हुआ कि धर्म्म-लक्ष के साधनमें ज्ञान प्रकाश-कारिणी विद्या ही सब से अधिक हितकारी है। अपिच बल के विचारसे एवं धनके विचारसे तो विद्या ही मुख्य अवलम्बनीय है; क्योंकि यह सर्ववादिसम्मत है कि एकमात्र विद्या की सहायता से बल एवं धन की शक्ति शतगुण रूप को धारण कर लिया करती है। प्रत्युत यह मान सकते हैं कि इन चार प्रकार की मानवीय साध्य वस्तुओं में विद्या मूल रूप, बल शाखा प्रशाखा रूप, धन पत्र पुष्प रूप और धर्म्म फल रूप से समझे जासक्ते हैं; एवं विद्या सर्वहितकारी होनेके कारण मूल रूप से सब से प्रथम और आवश्यकीय समझी जासक्ती है। विशेषतः जब धर्म्म-साधन में एकमात्र विद्या ही प्रधान सहायक है तो विद्या की श्रेष्ठता में और कुछ भी सन्देह नहीं रहा। जीवगणों के हितार्थ विद्याही सर्वोपरि प्रधान है इस में सन्देहमात्र नहीं॥

आर्य महर्षिगणोंने इन प्रत्येक साध्यवस्तुओंके पांच पांच भेद किये हैं। इस प्रबन्ध का तात्पर्य्य केवल विद्यासे है इस कारण विद्या केही पञ्चधा होने का प्रमाण केवल संग्रह किया-जारहा है। शुक्लयजुर्वेद संहिता अ० ३४ मं० ११ में लेख है कि, "पञ्च नद्यः सरस्वतीमपियंति सस्रोतसः। सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित्॥" अर्थात् वही भूमि सकल प्रकार के उन्नत भावों को धारण किया करती है कि जहां सरस्वती पञ्चस्रोत से उत्पन्न होकर प्रादुर्भूत होती है, पुनः पञ्चधा होकर विस्तारित होती है; इस प्रकार से श्रुति द्वारा विद्या-रूप सरस्वती के पांच विभाग होना प्रमाणित हुआ। इसके विषय में पुनः लेख है कि "पुस्तकमन्तःकरणम् गुरुःशि

ष्यस्तथैवच । गुणगृहीताख्याताच पञ्चस्रोतःसरस्वती ॥"
अर्थात् पुस्तक, अन्तःकरण (दिव्य कारण), गुरु, शिष्य और गुणगृहीतावृत्ति यह पांच स्रोत सरस्वती के कहे जासक्ते हैं । इन पाँच आधारों से विद्यारूपिणी सरस्वती का आविर्भाव हुआ करता है; परंतु इस प्रबन्ध का विचार केवल सरस्वती के प्रथम आधार "पुस्तक" से ही है; इसकारण इस स्थलपर पुस्तक के विभागों का अनुसंधान किया जानाही आवश्यक है। शास्त्रों में उपरोक्त पांच आधारों के पुनः पांच पांच भेद वर्णन किये हैं; एवं पुस्तकों के विभाग के विषय में ऐसा कहा है कि, "ब्रह्माण्डपिण्डनादश्च बिन्दुरक्षरमेवच । पञ्चैव पुस्तकान्याहु: योगशास्त्रविशारदाः ।" अर्थात् ब्रह्माण्ड, पिण्ड, नाद, विन्दु और अक्षर यह पांच भेद पुस्तकों के योगशास्त्रविशारदगणों ने किये हैं। जिस प्रकार विद्याके विस्तार पर विचार कियागया उसी प्रकार यदि अन्यान्य साध्यवस्तुओं के विभागों पर एवं विद्या के अन्यान्य विभागोंपर दृष्टि डाली जाय तो इन सबों के एकशत प्रकार होजायँगे। अर्थात् प्रत्येक के पञ्चविंशति रूप मिलकर चतुष्प्रकार की साध्यवस्तुओं के शतरूप हो जायँगे । इसी वैज्ञानिकभित्ति द्वारा शत प्रकार की मनोवृत्ति एवं शत प्रकार के धर्म्म आदि विषयोंका निर्णय किया गया है । परन्तु इस प्रबन्ध का संबन्ध केवल विद्या से ही है; एवं स्थूलरूपसे ज्ञानरूपिणी विद्याका साक्षात् संबन्ध अक्षरमयी पुस्तकों से है, इस कारण विद्या के कार्य्यों में अक्षरयुक्त पुस्तक ही प्रधान अवलम्बन रक्खा गया है । यदिच उन शत प्रकार की वृत्तियों में जीवके कल्याणार्थ सब ही करणीय है, यदिच उन शत प्रकार की

वृत्तियों की पूर्णतासे ही जगत् की पूर्ण उन्नति हुआ करती है; तत्रच सब में से अक्षरमयी पुस्तक को ही परम आवश्यकीय करके मान सक्ते हैं । क्योंकि अन्यान्य प्रकार की पुस्तक स्थूलरूप से स्थाई नहीं रह सक्ते, किन्तु अक्षर-निर्मित-पुस्तक-लिपि ही केवल स्थूलतर भावको धारण करके समानभाव से जीव-गणोंका कल्याण किया करती हैं; अन्यान्य प्रकार की पुस्तकें आधार के लोपसे तुरंत ही लय को प्राप्त होजाया करती हैं; परन्तु स्थूलभावापन्न अक्षरमय पुस्तकसमूह ही केवल चिरस्थाई रह सक्ते हैं । पूर्व विचार द्वारा जब यह सिद्ध हो चुका है कि चार प्रकार की साध्य वस्तुओं में से विद्या ही सर्वहितकारी और परम आवश्यकीय है, एवं यह भी निश्चय हो चुका है कि विद्या के संरक्षणमें स्थूलरूपेण एकमात्र अक्षरमयी पुस्तक ही अवलम्बनीय हो सक्ती है; यदिच विद्या के अन्यान्य भी भेद हैं परन्तु मनुष्यगण उन भेदों में से किसी को भी स्थूलरूपेण नहीं धारण कर सक्ते हैं; तो यह मानना ही पड़ेगा कि गुण विचारसे, एवं आवश्यकता के विचार से जीवगणों के हितार्थ अक्षरमयी पुस्तक ही सर्वोत्तम पदार्थ स्थिर निश्चय हुआ । यदिच पूर्वोक्त सब पदार्थ ही जीवगणों को अपनी अपनी शक्ति के अनुसार कल्याण प्राप्त करा सक्ते हैं, तत्रच यह दृढ़तर निश्चय हुआ कि पूर्वापर सम्बन्ध से तथा परोक्ष एवं अपरोक्ष कल्याण-कारकता के विचार से अक्षरमयी पुस्तक ही मनुष्यगणों के अर्थ परम हितकारी एवं परम आवश्यकीय पदार्थ है इस में सन्देह मात्र नहीं ।

परन्तु अत्यन्त शोक का विषय है कि अक्षरमय पुस्तकसमूह श्रेष्ठतर जीव मनुष्यगणों के अर्थ उन के कल्याण का प्रधान अवलम्बन होने पर भी आजदिन आर्य्यगण उनकी मर्य्यादा से सर्वथा विस्मृत होगये हैं प्रत्युत वे भूल ही गये हैं कि अक्षरमय पुस्तकसमूह किस प्रकार के अमूल्य पदार्थ हैं। यदिच यह निश्चय ही है कि भारतवर्षही ज्ञानकी आदि भूमि है, यदिच यह सप्रमाण ही है कि पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगणों की ज्ञान गरिमा पृथिवीमण्डल भर में सर्वोत्तम एवं पूर्णतायुक्त थी, यदिच यह स्थिर-सिद्ध ही है कि आर्य्य आचार्य्य-गणप्रणीत-पुस्तकगणों की सहायता से ही समस्त पृथिवी भर में ज्ञान-ज्योति का प्रकाश हुआ है, एवं यदिच यह अभ्रान्त अनुमान ही है कि रत्नगर्भा भारतभूमि पुस्तक रत्नों से पूर्ण ही रहा करती है, तथापि दीन हीन एवं निरुत्साहपूर्ण भारतसन्तानगण इस मर्म्म से पूर्णरूपेण ही विस्मृत होगये हैं कि "पुस्तक" उन के अर्थ किस प्रकारकी असाधारण हितकारी वस्तु है और "अक्षरमय पुस्तक-समूह" के अर्थ उनका क्या २ कर्तव्य है? अतएव आर्य्य-सन्तानमात्र से यही निवेदन है कि वे अपने स्वरूप और अपने कर्तव्य को कदापि न भूलें एवं विद्याप्राप्ति के अर्थ पुस्तक समूहों का संरक्षण करने में पूर्णतया कटिबद्ध होवें, एकमात्र "प्राचीन-पुस्तक-संरक्षण" द्वारा ही उनको धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी चतुर्वर्गकी प्राप्ति होसक्ती है। वर्त्तमान आपदकालमें पुस्तकसंरक्षणकार्य्यही उन के अर्थ प्रधान करणीय विषय है।

अब विचारने योग्य विषय यह है कि "पुस्तकोद्धार" के अर्थ किस प्रकारका पुरुषार्थ करना युक्तियुक्त है? प्राचीन

ग्रन्थों अर्थात् अप्रकाशित लिपियों का अनुसंधान करना, मुद्रित एवं विशेषतः अमुद्रित-लिपियों का संग्रह करना, उन की रक्षाका प्रबन्ध करना एवं उन के पुनःप्रचारार्थ उद्योग करना यह चार भेद "संस्कृत-पुस्तक-संरक्षण" के होसक्ते हैं। इन चारों भेदों में से आर्य्यगणों का प्रधान एवं प्रथमकर्त्तव्य "प्राचीन ग्रन्थ अनुसंधान करना" ही है। हमारी भारतीय गवर्नमेन्ट (Government of India) ने थोड़े कालतक प्राचीन ग्रन्थों के संग्रह में कुछ यत्न किया था; एवं उस यत्न का फल यह हुआ कि गवर्नमेन्ट-रिसर्चिंग-डिपार्टमेन्ट (Government Reserching Department) के उद्योगसे प्रायः १५००० पन्द्रह सहस्र संस्कृत-लिपियों का अनुसंधान हुआ। यदिच पच्चीस छब्बीस वर्ष पर्य्यन्त नियमित रूपेण इस महत्कार्य की सिद्धिके अर्थ अधिक धन भी व्यय किया गया था, परन्तु सुप्रबन्ध के अभावसे पूर्ण सफलता प्राप्त न होसकी और शोक! कि शेष में न जानें किस कारण वश होकर भारतीय-गवर्नमेन्टने इस जगदुपकारी अत्यावश्यकीय धर्म्म कार्य्य को बंद कर दिया!! रत्नगर्भा भारत अभीतक अमूल्य पुस्तक रत्नों से परिपूर्ण ही है; सो यदि सुप्रबंध के साथ अनुसंधान किया जाय तो इस धर्म्मकार्य्य में पूर्ण सफलता अवश्य प्राप्त होसक्ती है इस में कोई भी सन्देह नहीं। प्रमाण रूपेण विदित होने योग्य है कि संसार-विरागी केवल एक साधु महात्मा के पुरुषार्थमात्र द्वारा थोड़े ही काल में इस प्रशंसनीय अनुसंधान कार्य्य में इतनी स्तुत्य सफलता प्राप्त हुई है कि जिसकी अपूर्वता देखने से ही होसक्ती है। श्रीमत् परिव्राजकाचार्य्य परम-हंस श्रीस्वामी ब्रह्मनाथ आश्रम प्रतिष्ठित इटावा नगर-

स्थित "महासरस्वती-भंडार" की कार्य्य-प्रणाली दर्शन करने से जिज्ञासुगणों के सब सन्देह दूर होसक्ते हैं। पुस्तकालयों की वर्त्तमान संगृहीत पुस्तकसमूहों के केवल संरक्षणमात्र से ही "पुस्तकोद्धार" का महत् अभीष्ट कार्य्य सफल नहीं होसक्ता अर्थात् जितनी पुस्तकें जहां अनुसंधान हो चुकी हैं अथवा संग्रह होगई हैं उन पर ही अपनी इति, कर्त्तव्यता समझ लेने से भारतका कल्याण होना असम्भव है; सुतरां जबतक " पुस्तक अनुसंधान कार्य्य " की उन्नति दिनोंदिन न कीजाय तबतक जीवगणोंका यथार्थ रूपेण कल्याण साधन नहीं होसक्ता । इसकारण भारतवर्ष में एक " वृहत् पुस्तक-अनुसंधानकारी सरस्वतीभंडार " (Bibliographical Library) स्थापित करनेकी विशेष आवश्यकता है। आजदिन यूरोप में इस प्रकार के जीवहितकारी कार्योंका अभाव नहीं है। उस नवीन भूमि में (Bibliography) पुस्तक संरक्षण एवं अनुसंधान विद्याकी उन्नति ही इस विषयका प्रत्यक्ष प्रमाण है । एवं प्राचीन भारत की तो कथा ही क्या है; क्योंकि प्राचीन भारत में तो इस धर्म्मकार्य्य का बहुतही प्रचारथा जो देवर्षि सनक प्रणीत "चणक व्यूह" एवं महर्षि वेदव्यास प्रणीत "चणक व्यूह" आदि ग्रन्थोंद्वारा भलीभांति प्रमाणित होसक्ताहै । संसार विरागी, जीवहितकारी महात्मागण द्वारा जो कुछ सम्भव होसक्ता है सो कर रहे हैं; अब आर्य्यसन्तानगण पूर्णतया चैतन्य हो अपना २ कर्त्तव्य विचार करके इस परम हितकारी एवं भारतोद्धारीकार्य्यमें तन मन पूर्वक तत्पर हों तबही देशका मंगल होसक्ता है । किमधिकमिति ।

॥ ओं ॥

वर्णतत्त्व।



सृष्टि के आदिकाल से अर्थात् जब से वीर्य्य-सृष्टि का प्रारम्भ हुआ है तब से ही वर्ण-धर्म्म की रीति इस पवित्र भारतभूमि में प्रचलित है; वेद एवं वेदसम्मत सब शास्त्रों में वर्ण-सदाचार का पूर्णरूपेण प्रमाण मिलताहै। वेदों का आशय यहहै कि "गुण और कर्म्म से ही जाति की सृष्टि हुई है"। वर्ण-विभाग में गुण और कर्म्म काही विचार रक्खागया है; यही दोंनों वर्णभेद के भित्ति-स्वरूप हैं। वर्णों की स्थिति एवं चतुर्वर्णों की आवश्यकता के विषय में तो किसी जिज्ञासु को सन्देह ही नहीं हुआ करता। क्योंकि अनादिकालसे और वर्त्तमान समय पर्यन्त वर्णव्यवस्था का प्रमाण पूर्णरूपेण मिलताहै; आर्य्यगणोंमें वर्णतत्त्व इतना दृढ़रूप से स्थित है कि आर्य्य समाज (हिन्दूसमाज) से वर्णसदाचारों का कदापि लोप नहीं हुआ; अज्ञान-विस्तार के कारण वर्णव्यवस्था की अधिकता तो हुई परंतु इसका आर्य्यसमाज से एकबार ही लोप होना किसी काल में भी सिद्ध नहीं होता। द्वितीयतः वर्ण की आवश्यकता के विषय में विद्वान्गणों की तो कथा ही नहीं किन्तु अल्प बुद्धिमान्जनगण भी स्वीकार किया करते हैं कि विना कर्म्म-विभाग एवं विना जाति-विभाग के किसीभी मनुष्य-समाज की स्थिति अथवा उन्नति नहीं होसक्ती। किसी न किसी प्रकार से वर्णविन्यास की स्थिति बौद्ध, ईसाई और मुसल्मान आदि मनुष्य-समाजतक में

पाई जाती है। इसकारण यह मानना ही पड़ेगा कि वर्ण-तत्त्व की स्थिति एवं आवश्यकता के विषय में कोई भी बुद्धिमान् सन्देह नहीं करेगा॥

इस आवश्यकीय आर्य्यसदाचार के विषय में प्रधान शंकाऐं यह उठसक्ती हैं कि, अन्यजाति में उत्पन्न हुआ पुरुष पुरुषार्थ द्वारा उन्नत वर्ण को प्राप्त होसक्ता है वा नहीं? यदि शूद्रादि वर्ण पुरुषार्थ करे और ब्राह्मणों के कर्म्मों को पूर्णरूपेण अभ्यास करलेवे तो वह क्यों नहीं ब्राह्मण-होसक्ता है? अर्थात् केवल जन्मगत-जाति के मानने में प्रबल युक्ति क्या होसकती है? आजकल के वर्त्तमान कराल कलिकाल के विकराल समय में शास्त्रसे अनभिज्ञ जिज्ञासुगणोंमें प्रायःही इसप्रकार की शंकाऐं उठा करती हैं। और इसप्रकारकी भ्रमपूर्ण बुद्धिद्वारा आजदिन सनातन आर्य्य-समाज में बहुत हानि भी पहुँचती है। परन्तु शास्त्र के यथार्थ तात्पर्य के न जानने से ही ऐसी! शंकाऐं उठाकरती हैं; क्योंकि थोड़े विचार द्वाराही ऐसे पूर्व पक्षों का सिद्धान्त होसक्ताहै। सिद्धान्तमें युक्ति यह है कि, वर्ण के विचार में दोही पदार्थों की सिद्धि है, यथा प्रथम गुण और द्वितीय कर्म्म। गुण प्रकृति का धर्म्म है; सत्व, रज और तमोगुण प्रकृति–परिणाम से ही उत्पन्न हुआ करतेहैं। जैसी जिस पुरुष की प्रकृति होगी वैसाही उस पुरुष में गुणका प्रकाश होवेगा। और कर्म्म अन्तःकरण और शरीर द्वारा हुआ करता है; इस कारण वह कर्म्म सदा जीव के आधीन है, ऐसा मान सक्ते हैं। जब कर्म्म जीव के आधीन ह तब ऐसा भी मानना ही पड़ेगा, कि यदि अन्य जाति प्रबल पुरुषार्थ करे तो पुरुषार्थ की सफलता से वह निकृष्ट जातिका पुरुष ब्राह्मण जाति के कर्म्मों को अभ्यास करले

सकेगा जिसके द्वारा उस मनुष्य के कर्म्म ब्राह्मणों केसे होजावेंगे इस में कोई भी सन्देह नहीं; परन्तु अब विचारने योग्य विषय यह रहा कि उस निकृष्ट जाति से उत्पन्न हुए पुरुष की प्रकृति ब्राह्मण की प्रकृति को प्राप्त होसक्ती है वा नहीं ? जब गुण प्रकृति का धर्म्म है तो प्रकृति के परिवर्तन होने से गुण का परिवर्तन भी होसकता है इसमें सन्देह मात्र नहीं, परंतु मनुष्यकी प्रकृति परिवर्तन होसक्ती है वा नहीं यही विषय विचारने योग्य रहा। साधारण विचारसे ही तिनकेकी ओट पहाड़ की नाईं इस प्रश्न का निराकरण होसक्ता है; कि जब प्रकृति शरीरके आधारसे ही स्थित है; अर्थात् सूक्ष्म-शरीर का विस्तार रूप यह स्थूल-शरीर प्रकृति का आधार है, उसमें कैसे परिवर्तन होना सम्भव है । पूर्वापर कर्म्मों के अनुसार यह वर्त्तमान देह धारण करते समय जिस प्रकार का स्थूल-शरीर जिस पुरुष को प्राप्त होगया है उसका परिवर्त्तन होना प्राकृतिक नियमों के अनुसार असम्भव है। इस कारण जब आधाररूप शरीरका परिवर्तन नहीं होसक्ता तो आधेय रूप प्रकृति का भी परिवर्त्तन होना सर्वथा असम्भव है; और जब प्रकृति ही परिवर्तन नहीं होसक्ती तब अन्य जाति में उत्पन्न हुए पुरुष का गुण भी अपरिवर्तनीय ही रहेगा। वह अन्य जाति में उत्पन्न हुआ पुरुष कदाचित् प्रबल पुरुषार्थ द्वारा ब्राह्मण-कर्म्मों का अभ्यास करलेने से कर्म्म-संग्रह द्वारा अधूरा ब्राह्मण होसक्ता है, परन्तु उसकी प्रकृति अपरिवर्तनीय रहनेके कारण उसके गुणों में कुछ भी बदल न होने से वह गुण न्यूनता के कारण कदापि पूर्ण ब्रह्मत्व को प्राप्त नहीं होसक्ता। पुरुषार्थ द्वारा जीवगण अपनी क्रमोन्नति करसक्ते हैं, पुरुषार्थ

द्वारा सकल वर्ण के साधकगण मुक्तिपद की ओर अग्रसर होसक्ते हैं, पुरुषार्थ द्वारा सब जीवगणही साधक, योगी, महात्मा, धार्म्मिक, भगवत्उपासक आदि पदोंको प्राप्त होसक्ते हैं; परन्तु जिन नियमों पर अपना वर्णधर्म्म स्थितहै उन नियमों के अनुसार अन्य जाति में उत्पन्न हुआ पुरुष पुरुषार्थ द्वारा कदापि उच्च वर्ण के पूर्ण अधिकार को प्राप्त नहीं होसक्ता ॥

अब यदि शंका हो कि जब अपने शास्त्रों में देखते हैं कि विश्वामित्र मुनि एक ही जन्म में क्षत्रियवर्ण से ब्राह्मण-वर्णको प्राप्त होगये थे तो वह अधिकार सर्वसाधारण को देने में क्या हानि है ? अथवा उनको ऐसा अधिकार क्यों दिया गयाथा ? ऐसी शंकाओं के उत्तर में कहाजासक्ता है कि महर्षि विश्वामित्र का ऐसा उदाहरण शास्त्र में अति विरल ही मिलताहै; उनको जो अधिकार प्राप्त हुआ था सो सर्वसाधारण के लिये असम्भवसा ही है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं । केवल एक अलौकिक योगमार्ग ही है कि जिसके द्वारा मनुष्यगण ऐसी विभूतियों को धारण करके अमानुषिक कार्य्यों को करसक्ते हैं । अलौकिक योग-शक्ति का पूर्ण वर्णन योगिराज महर्षि पतञ्जलिकृत "योग-दर्शन" में किया गया है और उसका पोषण सब अन्यान्य दर्शन-शास्त्रोंने भी भली भांति किया है । योगदर्शन दृष्ट और अदृष्ट रूप से केवल दो प्रकार के कर्म्म ही मानता है; अर्थात् योगदर्शन-विज्ञान के अनुसार दृष्टकर्म्म अदृष्ट-रूप में और अदृष्ट-कर्म्म दृष्ट-रूप में परिणत होसक्ते हैं । जीवगणों के कर्म्माशय में अनन्त कर्म्म रहा करते हैं; यह केवल अलौकिक योगशक्ति की ही शक्ति है कि जिसके द्वारा विभूति युक्त साधक अपने वर्तमान दृष्ट-कर्म्म को

दबाकर अदृष्ट रूप में परिणत करदेसक्ता है और पुनः कर्म्माशय स्थित अदृष्ट-कर्म्मों को खींचकर दृष्ट-कर्म्मरूप में परिणत कर अप्राकृतिक कार्य्योंको भी करसक्ता है। उदाहरणस्थलतः समझ सक्ते हैं कि यह स्थूल-देह अतिशय भारयुक्त होनेके कारण जल अथवा वायु पर विचरण नहीं करसक्ता है; परन्तु यह योगशक्ति की ही अलौकिकता है कि जिसके द्वारा यह देह भी जलके ऊपर भ्रमण अथवा शून्यमार्ग में विचरण करसक्ताहै। एवं इसी योगशक्ति के प्रभाव से ही मनुष्यदेहकी प्रकृति भी परिवर्तन होसक्ती है; जिस प्रकार उस अलौकिक परिवर्तन का होना सम्भव है वह योगदर्शन में दृष्टव्य है। इसी योगशक्ति के प्रभाव से राजर्षि विश्वामित्र जी अपने देहमें प्राकृतिक परिवर्तन करके ब्रह्मर्षि कहाये थे। परन्तु ऐसा उदाहरण सर्वसाधारण के उपयोगी नहीं होसक्ता; क्योंकि प्रथम तो योगक्रियाओं की प्राप्ति एवं साधन करना ही अति कठिन है, द्वितीयतः योगमें पूर्ण सिद्धि प्राप्त होना कोई साधारण विषय नहीं है; इस कारण असाधारण कार्य्य को साधारण नियम में परिणत करना पूर्ण रूपेण युक्तिविरुद्ध है। महर्षि विश्वामित्र की नाईं अलौकिक अधिकारप्राप्त होना यदिच सम्भव एवं युक्तियुक्त है; परन्तु यह साधारण नियम कदापि नहीं होसक्ता। यह विषय इतना कठिन है कि योगिराज विश्वामित्रके अतिरिक्त और ऐसा अन्य उदाहरण पुराणों में भी नहीं मिलता।

जिस प्रकार प्रबल पुरुषार्थ द्वारा कर्म्मों में योग्यता प्राप्त करने पर भी निकृष्ट जाति का पुरुष पूर्ण ब्राह्मण अधिकार को नहीं प्राप्त होसक्ता और अधूरा ब्राह्मण ही रहजाता है, इसी प्रकार ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुआ पुरुष यदि यथार्थ

रूप से ब्राह्मण-कर्म्मों को न करे तो वह भी अधूरा-ब्राह्मण समझा जायगा इसमें कोईभी सन्देह नहीं । परन्तु भेद इतना ही है कि ब्राह्मणवंशोद्भव पुरुष ही पूर्ण ब्रह्मत्व को प्राप्त करसक्ता है, किन्तु और कुलमें उत्पन्न हुआ पुरुष कदापि उस अधिकार को प्राप्त नहीं होसक्ता । अब वर्त्तमान भारत के इस आपत्तिकाल में ब्राह्मण आदि वर्णगण वर्णतत्त्व की यथार्थ मर्य्यादा को भूल रहे हैं; और इसी कारण से ब्राह्मण आदि जातिगण बहुधा अपने कर्म्मों को त्याग करके अपूर्ण दशा को प्राप्त होरहे हैं। इस अज्ञान का इतना विस्तार होगया है कि एक वर्ण अनन्त विवर्ण को धारण करके आपस में ही श्वानवृत्ति का परिचय देकर परस्पर में ईर्षा, द्वेष आदि प्रमादकारिणी वृत्तियों को बढ़ाता हुआ चला जाता हैं; उदाहरण स्थलतः देखिये कि एक पञ्चगौड़–ब्राह्मण–सम्प्रदाय के ही अन्तर्गत कान्यकुब्ज ब्राह्मणगण गौड़ आदि ब्राह्मणों की निन्दा कर के उन को शूद्रपदवाच्य किया करते हैं; पुनः उसी प्रकार गौड़ आदि ब्राह्मणगण कान्यकुब्ज आदि ब्राह्मणगणों को घृणा-दृष्टिसे देखते हैं; एवं इसी प्रकार पंचद्राविड़ (द्रविड़, तैलङ्ग, महाराष्ट्र, गुर्ज्जर, कर्नाटक आदि) ब्राह्मणों के भेदों में भी पारस्परिक घोर द्वेष एवं पूर्ण घृणाभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। जब कि पञ्चगौड़ और पञ्चद्राविड़–ब्राह्मण–सम्प्रदायों के अपने २ भेदों में ही इतने घोर द्वेष और घृणाभाव का बर्ताव है तब पञ्चगौड़ और पञ्चद्राविड़ों के मध्य अनिर्वचनीय द्वेष और घृणाके बर्तावकी पराकाष्ठा होना कौन आश्चर्य्य है ? सो प्रत्यक्ष देखते हैं कि पञ्चगौड़ और पञ्चद्राविड़ ब्राह्मण आपस में एक दूसरे को ऐसी घृणा से देखते हैं कि वैसी घृणा किसी अन्य निकृष्ट जाति के साथभी करते प्रतीत नहीं

होते!!! अतः कहा जासक्ता है कि एकमात्र ज्ञानके अभाव से ही वर्ण-सदाचार में आजदिन इतना फेर पड़रहा है। शास्त्रों में केवल एकमात्र ब्राह्मण वर्णही का नाम अग्रज-वर्ण संज्ञा में पाया जाता है,परन्तु यह अज्ञान-विस्तार काही कारण है कि एकमात्र ब्राह्मण वर्ण से नाना ब्राह्मण जातियों कि सृष्टि होगई है। विद्वान्गण एवं शास्त्रज्ञातागण इस बात को मुक्तकंठ होकर स्वीकार करेंगे कि आजदिन की नाना ब्राह्मण जातियों का नाम मात्र तक प्राचीन शास्त्रों में नहीं मिलता है; केवल देश काल और पात्रके प्रभाव सेही प्रत्येक वर्ण ने दुःख के मूल रूप इस नाना "विवर्ण" को धारण कर लिया है; एवं प्रत्येक वर्ण में यह अनन्त जाति-विचित्रता ही "भारत" और उसके साथ ही "सनातन-धर्म्म"के घोर अकल्याण का कारण हुआ है इसको भी वे अवश्य ही स्वीकार करेंगे इसमें सन्देह मात्र नहीं। ब्राह्मण-जाति की इस हीन अवस्थासे ही अन्यान्य जातियों की भी अवनति हुई है यह भी सप्रमाण ही है; ब्राह्मणजातिकी अधोगति होनेके कारण ही आजदिन हम लोगों को इस प्रकार की शंकाओं के निवारण करने के अर्थ समाधान करने की आवश्यकता होरही है।

उपसंहार में यही कथनीय है कि जिस मनुष्य-समाज में आवागमन-विज्ञान का विश्वास प्रच-लित है, जिस मनुष्य-समाज में कर्म्मफल एवं भोग का रहस्य विधिबद्ध है उस पुनीत समाज में वर्ण-तत्त्व सम्बन्धीय इस प्रकार की शंकाऐं उठना सर्वथा अनुचित है। जब प्रत्येक जीव अपने कर्म्मवश होकर ही जन्म ग्रहण करता है, जब प्रत्येक जीव अपने पूर्व जन्मार्जित कर्म्मों के फलके अनुसार ही वर्त्तमान देह को प्राप्त किया

करता है तो पुनः इस प्रकारके प्रश्न करने की आवश्यकता ही क्या रही ? जब एक जीव के पूर्व-कर्म्म ही ऐसे होंगे कि उसको ब्राह्मण शरीर ही की प्राप्ति हो, तबही वह ब्राह्मण कुलमें जन्म ग्रहण करसक्ता है; और जब उसके पूर्व-कर्म्मों के अनुसार ही उसको वर्त्तमान भोग मिल चुका है तो पुनः उसके भोग पर सन्देह करना वृथाही है । वरन् इस विचार के अनुसार एक वर्ण का पुरुष दूसरे वर्ण के अधिकार प्राप्त करने के लिये यदि आग्रह करे तो उसका वह आग्रह भगवदाज्ञा के विरुद्ध होने के कारण पापजनक और निज कर्म्मप्रवाह के प्रतिकूल होने के कारण दुःख-दायी होगा ऐसा समझने योग्य है । किमधिकमिति ।

॥ ॐ श्रीसदाशिवायनमः ।



रागिनी खम्बाज, ताल चौताल ।

भजरे मन विश्वनाथ कालभय-निवारणम् ।
आदिदेव शूलपाणि दानवकुल-मारणम् ॥ १ ॥
धकत् धकत् चन्द्रभाल,भकत् भकत् ज्योतिज्वाल।
दीनशरण शिवदयाल, जीवकलुष-हारणम् ॥ २ ॥
लट्पटात् जटाजाल, सोहत त्रिपुण्ड्रभाल ।
राजततन बाघछाल, व्यालमाल-धारणम् ॥ ३ ॥
डिम् डिम् घन डमरूरोल, सींगनाद घोर बोल ।
अर्द्धमिलित नैनलोल, चिरमंगल-कारणम् ॥ ४ ॥

तंत्रशास्त्र ।



विष्णुर्वोरष्ठोदेवानांह्नदानामुदधिस्तथा ।
नदीनांचयथागङ्गापर्वतानांहिमालयः ॥
अश्वत्थःसर्ववृक्षाणांराज्ञामिन्द्रोयथावरः ।
देवीनांचयथादुर्गावर्णानांब्राह्मणोयथा ॥
तथासमस्तशास्त्राणांतंत्रशास्त्रमनुत्तमम् ।
सर्वकामप्रदंपुण्यंतंत्रंवैवेदसम्मतम् ॥

मत्स्यसूक्त में लेख है कि जिस प्रकार देवता गणों में विष्णु, ह्रदसमूहों में समुद्र, नदियों में गङ्गा, पर्वतों में हिमालय, वृक्ष समूहों में अश्वत्थ, राजागणों में इन्द्र, देवी-गणों में दुर्गा, और वर्णचतुष्टय में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार सब प्रकारके शास्त्रों में तंत्रशास्त्र सर्वोपरि प्रधान है। शास्त्रों में जो इस प्रकार से तंत्रशास्त्र की महिमा प्रकाशित है उसकी सत्यता का प्रमाण जिज्ञासुगणों को निरपेक्ष बुद्धि द्वारा इस शास्त्रके ग्रन्थ समूह के पाठ करने से ही मिल सकता है। यद्दिच अनेक तंत्र-ग्रन्थों में ऐसे विषय समूह भी बहुत प्राप्त होते हैं कि जिनके देखने से जिज्ञासु गणों को प्रथम दृष्टिमें यह शास्त्र अरुचिकर होसक्ता है; परन्तु यदि वे नियमित रूप से श्रेष्ठ तंत्र-ग्रन्थों को अपनी निरपेक्ष बुद्धि एवं सत्य-अनुसंधान-वृत्ति द्वारा अवलोकन करेंगे तो वे स्वतःही स्वीकार करने लगेंगे कि वास्तव में तंत्रशास्त्र-समूह बहुत ही जीवहितकारी है।

और जिस प्रकार इनकी प्रशंसा शास्त्रों में पाई जाती है, यह शास्त्र उसी प्रकार से किसी समय भारतवर्ष में सनातन-धर्म्म की रक्षाके अर्थ अपने पूर्ण स्वरूप में प्रकट था इसमें सन्देह नहीं।

तंत्रशास्त्र समूहों में से प्रमाण के अर्थ कुछ श्लोक लिखे जाते हैं; कि जिनके द्वारा पूर्वकाल में इस शास्त्रके विस्तार का प्रमाण जिज्ञासुगणोंको मिलसकेगा। "सिद्धीश्वरंमहातंत्रंकालीतंत्रंकुलार्णवम्। ज्ञानार्णवंनीलतंत्रं फेत्कारीतंत्रमुत्तमम्॥ देव्यागमंउत्तराख्यंश्रीक्रमंसिद्धिया-मलम्। मत्स्यसूक्तंसिद्धसारंसिद्धसारस्वतंतथा॥ वाराहितं-त्रंदेवेशियोगिनीतंत्रमुत्तमम्। गणेशविमर्षिणीतंत्रंनित्यातं-त्रंशिवागमम्॥ चामुंडाख्यंमहेशानिमुंडमालाख्यतंत्रकम्। हंसमाहेश्वरंतंत्रंनिरुत्तरमनुत्तमम्॥ कुलप्रकाशकंदेविकल्पं गान्धर्वकंशिवे। क्रियासारंनिबंधाख्यंस्वतंत्रंतंत्रमुत्तमम्॥ सम्मोहनंतंत्रराजंललिताख्यंतथाशिवे। राधाख्यंमालिनी तंत्रंरुद्रयामलमुत्तमम्॥बृहच्छ्रीक्रमतंत्रंचगवाक्षंसुकुमुदिनीम् विशुद्धेश्वरतंत्रंचमालिनीविजयंतथा॥समयाचारतंत्रंच भैर-वीतंत्रमुत्तमम्। योगिनीहृदयंतंत्रंभैरवं परमेश्वरी॥सनत्कुमा-रकंतंत्रं योनितंत्रंप्रकीर्तितम्। तंत्रांतरंचदेवेशिनवरत्नेश्वरं तथा॥कुलचूड़ामणितंत्रंभावचूडामणीयकम्।तंत्रदेवप्रकाशंच कामाख्यानामकं तथा॥ कामधेनुकुमारीचभूतडामरसंज्ञक-म्।कामिनीविजयंतंत्रंयामलंब्रह्मयामलम्। विश्वसारंमहातंत्रं महाकालंकुलामृतम्। कुलोड्डीसंकुब्जिकाख्यंयंत्रचिन्तामणी-यकम्॥ कालीविलासकादीनितंत्राणिपरमेश्वरि। कालकल्पे सुसिद्धानि ह्यश्वक्रान्तासुभूमिषु॥ इति महासिद्ध सारस्वते। अपिच। चतुः षष्टिश्चतंत्राणियामलादीनिपार्वति। सफला

नीहवाराहेविष्णुक्रान्तासु भूमिषु॥ कल्पभेदेन तंत्राणिकथितानिचयानिच । पाषंडमोहनार्थैवविफलानीहसुन्दरि ॥ इतिमद्वाविश्वसारतंत्रम् । आगमंत्रिविधंप्रोक्तंचतुर्थमैश्वरंस्मृतम् । कल्पश्चतुर्विधः प्रोक्त आगमोडामरस्तथा ॥ यामलश्च तथातंत्रंतेषांभेदाःपृथक्पृथक् । लक्षमात्रंभारतेच क्षितौ तंत्राणियानिच ॥ मुक्तकाख्यंप्रपंचश्चसारदाख्यंचनारदः । महार्णवश्चकपिलोयोगःकल्पःकपिंजलः॥ अमृतशुद्धिर्वीरश्चसिद्धःसंवरुणस्तथा ॥ प्रथमोऽष्टःसहस्रेतुश्लोकादशप्रकीर्तिताः॥ द्वितीयेमुक्तकस्तत्रषट्सहस्राणिसंख्यया । श्लोकाशतार्धसंख्यातास्तृतियस्त्रिसहस्रकः ॥ शतद्वयंसाधिकंचश्लोकानां पंचविंशतिः । त्रिषष्ट्युत्तरसहस्राणिश्लोकानांभानुसंख्यया ॥ प्रपंचप्रथमेतंत्रद्वितीयेवसुसंख्यया । सहस्राणितथाश्लोकाःसप्तविंशतिसंख्यया ॥ भूतनेत्रसहस्राणि तृतीयेपंचसहस्रकम् । शतत्रयंपंक्तिश्लोकाःप्रपंचकथितास्त्रिधा ॥ कलासंख्यासहस्राणिशारदायाःप्रकीर्तिताः । पंचविंशाधिकाः श्लोकाःवसुश्लोकाश्चनारदः ॥ विंशतिश्चसहस्राणिषट्सहस्राणिसंख्यया । वसुश्लोकाश्चकथिताः कपिलः श्लोकसंख्यया ॥ त्रयोदशसहस्राणिकालोत्तरशतत्रयम् । श्लोकसंख्यासमुद्दिष्टायोगेकल्पेचसंख्यया॥ बाणसंख्यासहस्राणिश्लोकानवतिकीर्तिताः । श्लोकानान्तुसहस्राणिह्यष्टविंशतिसंख्यया ॥ श्लोकाश्चभानुसंख्यातास्तंत्रेऽपिचकपिंजले । अमृतशुद्धौसहस्राणिपंचश्लोकाधिकानिच ॥ पंचैवकथितानेत्रसंख्यातानियथार्थतः । वीरागमेषड्धिकानिशतानिपारिसंख्यया ॥ सहस्राणिचतावंतिश्लोकानान्तुयथार्थतः । पंचाधिकसहस्राणिश्लोकानामृतुसंख्यया ॥ सिद्धसंवरणोक्तानिचेश्वरेणयथापुरा ॥ डामरःषड्विधोज्ञेयः प्रथमोयोगडामरः। श्लोकास्तत्रत्रयास्त्रिंशत तथापंचशतानिच ॥ त्रिविंशतिसहस्राणि श्लोकानि चेह

संख्यया । एकादशसहस्राणि संख्याताः शिवडामरे ॥ श्लोकाःसप्तैवनिश्चित्यचेश्वरेणैवभाषिताः।तावत्श्लोकसहस्राणिपंचश्लोकशतानिच ॥ गुणेस्तरणिदुर्गायाडामरेकथितानिच। नवश्लोकसहस्राणिनवश्लोकशतानिच ॥ सारस्वतेयथा श्लोकाःपञ्चैवपरिकीर्तिताः। स्वरसंख्यासहस्राणिश्लोकानांब्रह्मडामरे ॥ पंचोत्तरशतान्यत्रसंख्यातानिशिवेनतु । षष्टिः श्लोकसहस्राणिगंधर्वडामरोत्तमे॥ श्लोकाश्चषष्टिसंख्याताब्रह्मणाव्यक्तयोनिना।यामलाः षट्च संख्यातास्तत्रादावादियामले ॥ द्वात्रिंशच्चसहस्राणित्रियस्त्रिशच्छतानिच । द्वितीयब्रह्मसंज्ञेतुद्वाविंशतिश्चसंख्यया ॥ सहस्राणि शतान्यत्र तान्येवकथितानिच। तावत्संख्यासहस्राणिशतानिपरिसंख्यया॥ विंशतिश्चतथासंख्याश्लोकाश्चविष्णुयामले । कालसंख्यासहस्राणिवेदसंख्याशतानिच॥ पंचषष्टिस्तथाश्लोकाःकनिष्ठेरुद्रयामले। नवश्लोकसहस्राणित्रयोदशशतानिच॥ द्वाविंशतितथाश्लोकागणेशयामलोत्तमे ॥ रविसंख्यासहस्राणिआदित्यास्वेतुयामले॥ तंत्रेनीलपताकायांसहस्राणित्रयपंचच। पंचविंशतिश्लोकाश्चकथितावामकेश्वरे ॥ त्रयोदशसहस्राणि द्वेशतेत्रिंशतिस्तथा । श्लोकामृत्युंजयेतंत्रेसंख्यातास्तंत्रवेदिभिः ॥ गजसंख्यासहस्राणित्रीणिसंख्याशतानिच । सप्तश्लोणास्तथैवात्रतंत्रयोगार्णवोत्तमे ॥ दशश्लोकसहस्राणितावंतेव शतानिच। मायाख्येचमहातंत्रेयथार्थतःप्रकीर्तिताः॥पंचश्लोकसहस्राणितावंत्येवशतानिच। शतार्द्धसंख्ययाश्लोकादक्षिणामूर्त्तितंत्रके॥दशश्लोकसहस्राणितावंत्येवशतानिच। त्रयोदशतथाश्लोकाःकालिकाख्येचतंत्रके॥कामेश्वर्यातंत्रवरेसहस्राणित्रयंमहत्। श्लोकानांसंख्ययाचात्रतंत्रराजेचसंख्यया ॥ नवश्लोकसहस्राणिनवश्लोकशतानिच। द्वाविंशतिसहस्राणि हरगौर्याख्य तंत्रके॥ तथाचविंशतिश्लोकास्तंत्रेह्यस्मिन्प्रकी-

र्त्तिताः । अर्कसंख्यासहस्राणिद्वितीयेतंत्रवेदिभिः ॥ अष्टविंशतिश्चश्लोकाः संख्यातास्तंत्रनिर्णये। कुब्जकाख्येमहा तंत्रेश्लोकाश्चदशसंख्यया ॥ सहस्राणि तथा सप्त संख्यातानि मनीषिभिः । द्वितीयेषट्सहस्राणितदर्धंचकनिष्टके ॥ अर्कसंख्यासहस्राणितथांकुशशतानिच। तावद्देव्यामहातंत्रेसंख्यातानिद्विजोत्तमैः॥द्वाविंशतिसहस्राणिद्वाविंशतिशतानिच । कात्यायनास्तु तंत्रस्य संख्यातानि मनीषिभिः ॥ वसुश्लोक सहस्राणितावंत्येवशतानिच । प्रत्यंगिराख्यतंत्रेचनिश्चितानियथार्थतः ॥ भूतसंख्यासहस्राणि तथात्रिंशच्छतानि च । महालक्ष्म्यास्तंत्रराजेपंचश्लोकाश्चकीर्त्तिताः गजसंख्यासहस्रा णिश्लोकाश्चतुसंख्यया । त्रिपुरार्णवे महातंत्रे लिखिताःपरम र्षिभिः ॥ सरस्वत्याःसहस्रेद्वेद्वेशतेसंख्ययास्मृते । पंचश्लोका स्तथैवात्र विज्ञातव्या द्विजातिभिः ॥ द्वाविंशति सहस्राणि आद्येतंत्रोत्तमोत्तरे । अंगसंख्याशतान्यत्र श्लोकाः पञ्चदशैव-तु ॥ द्वाविंशति सहस्राणि तथा बाणशतानिच। द्वात्रिंशच्च तथाश्लोका योगिन्यास्तंत्रराजके ॥ द्वितीये षट्सहस्राणि तथाच त्रिशतानिच । त्रयः श्लोकास्तथैवात्र वाराह्यास्तंत्र उत्तमे ॥ ऊर्मिसंख्यासहस्राणि तत्त्वसंख्याशतानिच । गवाक्ष्ये तंत्रराजऽस्मिन् श्लोकाहि तत्त्वसंख्यया ॥ वर्णसंख्या सहस्राणि द्वेशतेपरि।निश्चिते । श्लोकास्त्रयश्च संख्यातास्तंत्रे नारायणीयके ॥ वेदसंख्यासहस्राणि तान्येव च शतानिच। श्लोकानवतिसंख्यातामृडानीतंत्रराजके।तृतीये त्रिसहस्राणि त्रिशतानि कानिष्ठके॥ त्रिशतश्लोकाश्चसंख्याताज्ञातव्यास्तंत्र वेदिभिः॥ उपतंत्राणियथा ॥ सिद्धोक्तान्युपतंत्राणि कापिलोक्तानि यानिच। अद्भुतानि च एतानि जैमिन्युक्तानि यानिच॥ वसिष्ठःकापिलश्चैव नारदो गर्ग एवच। पुलस्त्यो भार्गवःसिद्धो याज्ञवल्क्योभृगुस्तथा ॥ शुक्रो बृहस्पतिश्चैव अन्येयेमुनिस

त्तमाः । एभिः प्रणीतान्यन्यानि उपतंत्राणि यानिच ॥ न संख्यातानि तान्यत्र धर्म्मविद्भिर्महात्मभिः । सारात्सार-तराण्येवसंख्यातानि निबोधथ ॥ इतिवाराहितंत्रे" ॥

इन मूलश्लोकों के पाठकरनेसे पाठकगणमात्रही जान-सकतेहैं कि कितने अधिक तंत्र-ग्रन्थ पुराकाल में प्रचलितथे । ग्रन्थ-संख्या तथा श्लोकसंख्या के देखने से बुद्धिमान् पुरुषमात्र ही अनुमान करसकते हैं कि किसप्रकार विस्तृत अंगों को धारण करके यह शास्त्र प्राचीन कालमें सनातन वैदिक-धर्म्मकी सिद्धि एवं कर्म्मकी रक्षा किया करता था । यदि यह शास्त्र उन्नति को न प्राप्त होता, यदि यह शास्त्र पूर्णरूपेण प्रचारित न रहता, यदि इस शास्त्रका आदर आर्य-गणों में नहोता एवं यदि यह शास्त्र वेदकी अतुलनीय वैज्ञानिक भित्तिपर निर्माण न किये जाते तो कदापि आर्य-गणों की भारतभूमिमें एवं पूज्यपाद महर्षिगणों के शासन-स्थान में इस शास्त्रका इतना विस्तार होना सम्भव नहीं था । इस शास्त्र का यह विस्तृतरूपही इसके गौरव का अकाट्य प्रमाण है ।

तंत्र-शास्त्र के विरुद्ध वक्तागण इस शास्त्रपर बहुधा प्रायः दो प्रकार का लांछन लगाया करते हैं कि, "प्रथम तो तंत्रों में इन्द्रजाल अथवा मारण वशीकरण व योगिनी, मातृका आदि सिद्धियों का होना है और दूसरे तंत्र में "पंचमकार" आदि भोग पदार्थों व क्रियाओं की आज्ञा रहना आदि घृणित विषय है । " परन्तु सत्य अनुसंधानकारी एवं सार्व-भौम-दृष्टिसम्पन्न जिज्ञासुगण यदि अपनी निरपेक्ष बुद्धि द्वारा अनुसंधान करेंगे तो थोड़े ही विचार से उनके चित्तकी यह शंकायें दूर होसकती हैं । भक्तिमार्ग के प्रधान आचार्य भक्ताग्रगण्य महर्षि शाण्डिल्यजी ने अपने सूत्रों में कहा है कि

"सर्वाऽनृतेकिमितिचेन्नैवंबुद्ध्यानन्त्यात्" अर्थ—सब छोड़ देने पर फिर सिद्धिकी क्या आवश्यकता हुआ करती है ? आवश्यकता अवश्य है, क्योंकि बुद्धि बहुत प्रकार की होती है । सूत्र भाष्य—"अब यदि जिज्ञासुगणों के हृदय में यह शंका उठे कि जीव को तो सदा मुक्ति-उपाय काही चिन्तन करना उचित है, भक्तिही उनके लिये श्रेय है, तो पुनः ऐश्वर्यों का वर्णन क्यों किया जाता है ? साधक भक्तगण ऐश्वर्य्य लेके क्या करेंगे ? इस प्रकार की शंकाओं के दूरकरने के अर्थ महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि जीव अनन्त हैं; इस-कारण जीव की मति गति का भी ठिकाना नहीं; सबही जीव मुक्तिके अभिलाषी थोड़े ही होते हैं । जो साधक ऐश्वर्य्य का भिखारीहो उसके अर्थ ऐश्वर्य्यों का होना भी अवश्य है । क्योंकि जब साधक अपनी कामना के अनुसार सिद्धियों को प्राप्त करलेगा; तब ही वह आगे को बढ़ सकेगा; वासना रहते जीव मुक्तिपद्का अधिकारी होही नहीं सकता । इसकारण मध्यवर्त्ती साधकों के हितार्थ, प्रार्थना-कारियों की प्रार्थना पूर्ण करणार्थ, उन पर कृपावश हो आचार्य्य गणों ने अपने ग्रन्थों में सिद्धियों का वर्णन किया है ।" पूज्यपाद महर्षि शाण्डिल्यजीके विचार सिद्धान्त द्वारा जिज्ञासुगणों की शंका दूर होसकती है । इसी सिद्धान्त पर स्थित रहकर प्राचीन आचार्य्य गणों ने प्रायः ही अपने साधन सम्बन्धीय ग्रन्थ-समूहों में नानासिद्धि तथा सिद्धियों की प्राप्ति का कौशल वर्णन किया है।हठयोग-के ग्रन्थ समूह, लययोगके ग्रन्थ समूह,मंत्रयोग के ग्रन्थ समूह और उपासना काण्डके ग्रन्थ समूहों में प्रायःही इन सिद्धियों का वर्णन पाया जाता है । विशेषतः सब प्रकार के साधन-मार्गों के आदि विज्ञानरूप "योगदर्शन" में इन सिद्धि-

यों का वर्णन बहुत ही विस्तृत रूप से किया गया है। वैदिक-धर्म्म-समाज में जितनी प्रकार की साधन सम्प्रदायें प्रकट हैं उन सबों की ही एक मात्र भित्ति योगिराज महर्षि पतञ्जलि कृत योगदर्शन है; जो कोई सम्प्रदाय ज्ञानोन्नति अथवा मुक्तिपद की इच्छासे किसी प्रकार का साधन करता हो वह अवश्य इस अभ्रान्त और सार्वभौम-विज्ञान के अनुसार ही होगा। परन्तु इस दर्शन-शास्त्र के पठन करने से स्वतःही प्रमाणित होता है कि पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलि भी सिद्धि-वर्णन एवं सिद्धि-विस्तार के विशेष पक्षपाती थे; इसी कारण योगिराज महर्षिजीने अपने योगदर्शन में "विभूति पूर्वाध्याय" नामसे एक स्वतंत्र अध्यायही प्रणयन किया है; शास्त्र द्वारा एवं प्राचीन महर्षिगणों के सिद्धान्त द्वारा सिद्धियों की पुष्टि का प्रमाण इससे अधिक और क्या होसकता है। सिद्धियों के विषय में प्रधान कथनीय विषय यह है कि यह सिद्धि-विज्ञान की उन्नति का ही फल है कि प्राचीन आर्य्यगणों ने लौकिकशास्त्रों के आविष्कार में इतनी सफलता प्राप्त की थी। आजदिन जिस प्रकार यूरोपीय पंडितगण नानालौकिक शास्त्रोंकी उन्नति कर रहे हैं,प्राचीन भारत के आर्य्यगणों ने उसप्रकार से इन शास्त्रों का आविष्कार नहीं किया है। एक शास्त्रशैली के एकवार आविष्कार होजानेपर तत्पश्चात् साधारण बुद्धिद्वारा उसकी क्रमोन्नति करना कुछ कठिन नहीं है;परन्तु सबसे कठिन विषय किसी शास्त्र का प्रथम आविष्कार ही है। उदाहरणस्थलपर समझ सकते हैं कि प्राचीन महर्षिगण-आविष्कृत-ज्योतिषशास्त्र की अब बड़ी भारी उन्नति यूरोपवासी गण कररहे हैं;परन्तु अब यूरोपीय विद्वान्गण चाहे उसकी उन्नति कितनी ही करडालें, चाहे

नवीन यंत्रोंकी सहायता से इस विद्यामें कितनी ही अलौकिकता प्रकाशित करें, किन्तु सर्वदर्शी विद्वान्गणों के सन्मुख उनकी यह सफलता, उनका यह परिश्रम महर्षि गणों के आदि परिश्रम के सन्मुख तुच्छ ही प्रतीत होगा। विचार द्वारा स्वतःही अनुमेय होसक्ताहै कि आदिकाल में ऐसे बड़े शास्त्र के आविष्कार में कितनी योग्यता की आवश्यकता थी; यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि पूज्यपाद महर्षिगणोंने आदिकालमें किस कौशल द्वारा इस शास्त्रका आविष्कार किया था सो आज दिन तक यूरोपीय विद्वान् गण समझही नहीं सके हैं। परन्तु अपने ग्रन्थसमूह द्वारा यह स्थिर निश्चय ही है कि महर्षि पतञ्जलि अनुमोदित सिद्धि अर्थात् विभूति-विज्ञान द्वारा ही प्राचीनकाल में आर्य्य आचार्य्यगणों ने इस प्रकार के शास्त्र समूहों का आविष्कार कियाथा। सिद्धि-समूह द्वारा प्रकृतिराज्य पर साधक का अधिकार दृढ़ हुआ करता है; इसकारण साधक का जब तक प्रकृति राज्य से सम्बन्ध है तब तक निस्स्वार्थ रूपेण उसका सम्बन्ध सिद्धियों से अवश्य रहना सम्भव है। गुण भेदसे यदिच सिद्धियों में छुटाई बड़ाई हुआ करती है; गुणभेदसे यदिच साधकगण सिद्धि की प्राप्तिद्वारा निस्स्वार्थपरायण अथवा घोरस्वार्थपर हुआ करते हैं; गुणभेदसे यदिच निस्स्वार्थ-कर्म्मद्वारा साधकगण क्रमशः उन्नत दशा की प्राप्ति एवं स्वार्थपूर्ण कर्म्म द्वारा क्रमशः अधोगति की प्राप्ति किया करते हैं; तत्रच साधक के साथ सिद्धियों का सम्बन्ध अवश्य ही रहना सम्भव है इसमें कोईभी सन्देह नहीं। तंत्रोंमें निकृष्ट और उत्कृष्ट दोनों प्रकार की सिद्धियों का बर्णन है और साधक गुणभेद से तीनप्रकार के हुआकर-

ते हैं, जिनमें से सात्विक साधक को तो सिद्धियों की इच्छाही नहीं रहती, राजसिक साधक को उत्कृष्ट सिद्धियों की इच्छा रहती है, और तामसिक साधक सदा निकृष्ट सिद्धियों के लिये व्यग्र रहा करते हैं; इसी कारण से राजसिक एवं तामसिक साधकों की कामनापूर्त्तिके अर्थ, और साधनमार्ग में उनको अग्रसर करने के अर्थ जीवोंपर अति कृपाकर तंत्रशास्त्रों ने सिद्धियों का प्रकाश किया है; इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि यदिच साधन मार्ग में सिद्धियां दुःखदायी होती हैं परन्तु उन सिद्धियों की पूर्ण आवश्यकता भी रहने से तंत्रशास्त्रों में इस प्रकार से सिद्धियों का वर्णन किसी प्रकारसे निन्दनीय नहीं हो-सकता।

तंत्रशास्त्र के विरुद्ध पक्षपाती गणोंकी दूसरी शंका यह हुआ करती है कि ऐसे धर्म्मोद्धारक शास्त्रों में पञ्चमकारादि भोग-सम्बन्धीय साधन-व्यवस्था क्यों रक्खी गई है; मद्य, मांस, स्त्रीसेवा, भोजन विलास, आदियों का वर्णन उपासना विवरण के साथ रहना बहुत ही निन्दनीय सा प्रतीत होता है; परन्तु सार्वभौम विचारसे निरपेक्ष अनुसंधान द्वारा ऐसी शंकाओं का भी तुरत ही निराकरण होसक्ता है। प्रथमतः इस संसार में कोई वस्तु भी केवल सत् अथवा केवल असत् पदवाच्य नहीं होसक्ती; केवल लक्ष सत् अथवा असत् होनेके अनुसार पदार्थ सत् अथवा असत् हुआ करता है। उदाहरण स्थलपर समझ सक्ते हैं कि एकमात्र मदिरापान ब्राह्मणवर्णके अर्थ महा असत्-पदार्थ है, परन्तु वही मदिरा कठिन रोगशय्याशायी रोगी के अर्थ (चाहे वह किसी वर्ण का हो) सत् अर्थात् धर्म्मकारी है। यदिच स्त्रीसेवा विचार से परस्त्रीगमन महा असत्-कार्य्य

है, परन्तु उसी प्रकार स्वकीया स्त्री में उचित समयपर न गमन करना भी असत्–कार्य्य समझागया है; स्त्री-सेवा यदिच परस्त्री में असत्–कार्य्य है परन्तु वही स्त्री–सेवा निज स्त्रीमें–सत् कार्य्य करके माना गया है । इसकारण यदि तंत्रोक्त उन पदार्थों के ग्रहण करने में श्री गुरुदेव का जो उपदेश हो वह यदि शिष्य को यथार्थ लक्षपर पहुंचा देने के अर्थ हो तो उन असत्–पदार्थों का ग्रहण करना भी उत्तम कार्य्य होगा इसमें सन्देह नहीं । द्वितीयतः श्रीभगवान्‌जी ने निज मुखसे ही श्रीमद्भगवद्गीता में कहाहै कि "यज्ञार्थे क्रियते कर्म अन्यत्रं कर्मबन्धनम्" अर्थात् यज्ञके अर्थ जो कर्म्म कियाजाय वह कर्म साधक के बन्धन का हेतु नहीं होता, परन्तु जो कर्म्म यज्ञ के अर्थ न किया जाय वही कर्म्म जीवके बन्धनका हेतु हुआ करता है । श्रीभगवान्‌जी ने श्रीगीताजी में भलीभांति सिद्ध कर दिखाया है कि विना कर्म्म किये जीव एक मुहूर्त्त भी नहीं रहसक्ता, इस कारण मुमुक्षु जीवगणों को सदा कर्म्म करना उचित है; परन्तु वे मुमुक्षगण केवल इतना ही किया करें कि अन्य साधारण जीवोंका कर्म्मों पर जिसप्रकार लक्ष रहता है वे उस प्रकार से अपने कर्म्मों पर लक्ष न रक्खें; अर्थात् मायालिप्त जीवगण जिसप्रकार अहंकार से युक्त होकर अपने स्वार्थके अभिलाष से साधारणतः कर्म्म किया करते हैं उस प्रकारसे मुमुक्षु जीवगण न किया करें; किन्तु अहंकार त्याग करके निःस्वार्थ बुद्धि-द्वारा केवल कर्त्तव्य समझकर कर्म किया करें; तबही उन मुमुक्षु गणों का वह किया हुआ कर्म उनके बंधनका हेतु न होगा वरन् वह निष्काम कर्म्म साधकगणों की मुक्तिका कारण होजायगा । पूर्वोक्त श्रीभगवत्-वाक्य के उदाहरण स्थल-

पर समझ सक्ते हैं कि रसना की तृप्ति के अर्थ उत्तम स्वादपर इच्छा रखकर अच्छे अच्छे पदार्थ ग्रहण करना यदिच मनुष्य के बन्धन का हेतु हुआ करता है, परन्तु श्रीभगवान् की प्रसादी वस्तुऐं यदि नानाप्रकारके दिव्य पदार्थ हों और साधक उनको केवल प्रसाद समझकर निष्कामहो, केवल भक्तियुक्त होकर ग्रहण करे तो कदापि उस साधक का वह दिव्य पदार्थ-भोजन बंधन का हेतु नहीं होगा। और भी स्थूल-दृष्टि से विचार करसक्ते हैं कि, साधक का लक्ष सदा साधन की ओर रहा करता है, परन्तु शरीर की स्वस्थता ही साधन-सफलताके लिये प्रधान सहायक है; इस अवस्था में यदि मुमुक्षु साधक भोजन करना रूप कर्म्म को भूल जाय तो यथार्थ ही है किन्तु क्षुधा से जब शरीर व्याकुल होकर साधनमें शरीर असक्त होने लगे उस समय यदि साधक साधन-कर्म्म त्याग करके विन रसास्वादन के अति शीघ्रता पूर्वक भोजनीय द्रव्योंसे अपनी उदर पूर्णाकरके पुनः साधन कार्य में लगे तो उस साधक का वह भोजन करना यज्ञ अर्थात् साधन-कर्म्म ही समझा जायगा; क्योंकि जब विना भोजन किये साधन चिर समयतक बन नहीं सक्ता था तो साधक के उस समय का भोजन यज्ञ अर्थात् साधन-कर्म्म ही हुआ; इस कारण लक्ष मुक्ति की ओर रहने से साधन-सहायकारी असत् वस्तु भी सत वस्तु ही समझी जासक्ती है इसमें सन्देह नहीं।तृतीयतः यह स्थिर-सिद्धान्त ही है कि साधक की प्रकृति और प्रवृत्ति जिस प्रकार की होगी उसको उसीके अनुसार उपदेश देनेसे ही उसका कल्याण होसक्ता है; अन्य प्रकार के उपदेशों से कदापि साधक का कल्याण नहीं होसक्ता वरन् बुद्धिभेद एवं अनधिकार चर्चासे उसका और भी अकल्याण होने की

सम्भावना है । एक भोगी कामी राजाको यदि वैराग्य युक्त योगसाधन का उपदेश दिया जाय तो अवश्य करके वह उपदेश पाषाणपर बीज बोने की नाईं निष्फल होगा; इसी प्रकार घोर विषयासक्त मदिरापायी नास्तिक पर यदि श्रीगुरुदेव की कृपा हो और उपदेशक गुरु उसको स्त्री, मदिरा आदि भोग्य वस्तु का त्याग करके उसे एकाएक वैरागी साधक बनाना चाहें तो उनका वह उपदेश व्यर्थ ही नहीं जायगा वरन् आश्चर्य नहीं कि उनको इस उपदेश कार्य्य में दुष्टों के कोप से कदाचित् अपमान भी उठाना पड़े । इसकारण उपदेश प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार ही दिया जाना कार्यकारी होता है; और ऐसे देश, काल पात्र विचार द्वारा जो उपदेश दिया जाता है उससे जीवकी क्रमोन्नति भी होती है इसमें सन्देह नहीं । भोगी कामी पुरुष तो भोग करता ही रहेगा; संसार के मोहलित जीवगणों से एकाएक स्त्रीसंग का त्याग करवाना अथवा घोर उन्मत्त तामसिक जीवोंसे एकाएक इन्द्रियभोग्य वस्तुओंका भोग छुड़वाना पूर्ण रूपेण असम्भव है। यदि च शनैःशनैः दुर्व्यसन समूहोंको छुटाकर क्रमशः उत्तमोत्तम व्यसनों का अभ्यास करवाना सम्भव है, परन्तु विषयासक्तों का तीव्र अभ्यास एकाएक छूटना अत्यंतही कठिनहै इसमें सन्देह मात्र नहीं । यदि घोर उन्मत्त भोगी कामी राजसिक वा तामसिक मनुष्यों के हितार्थ उनको "पञ्च मकार„ की सहायता से भोग-तृप्तिकी आज्ञा देकर अन्य प्रकार के प्रमाद ग्रस्त भोगों से निवृत्त कियाजाय तो क्या उन तामसिक अधिकारियों का कल्याण नहीं होगा ? उपदेशग्रहण से पूर्व वे सदा उन्मत्त रहाकरते थे, योनिविचाररहित होकर कामवश हो धर्म्माऽधर्म्मविचार शून्य होरहे थे, मद्य

मांस आदि अखाद्य समूहों को सकल प्रकारके शासन रहित होकर सेवन किया करते थे; इस अवस्थामें यदि उन पर कृपा करके उनको धर्म्माधर्म्म का सामान्य ज्ञान सुनाया जाय, तत्पश्चात् परकाल आदि भयदर्शनद्वारा उस धर्म्माधर्म्म-विचार पर यत्किंचित् मनन करवाके उनको वृथा स्त्री-सेवन, वृथा-अखाद्य-भोजन आदि भोगों से विरत रहने की आज्ञा देकर केवल तंत्रोक्त "पञ्चमकार-साधन" की सहायता से उनको उनकी प्रिय वस्तुओं के भोग करने की योग कर्म्म-सुकौशलपूर्ण युक्ति बताई जाय तो क्या उन निम्न अधिकारी साधकों का कल्याण नहीं होसक्ता है। पूर्व उन्मत्त अवस्था में जो कामी पुरुष स्त्री देखते ही उन्मत्त हुआ करता था अब साधन–कौशल की कृपा से उसको नाना क्रियाओंके वशीभूत होकर प्रथम तो कर्म्म में लिप्त रहकर कुछ कालतक पूर्व उन्मत्तता से बचना पड़ेगा, एवं इष्ट देवता के स्मरण आदि सात्विक कर्म्म द्वारा भी उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति में कुछ गुणभेद अवश्य होगा। इस प्रकार से वह तामसिक साधक भोग और धर्म्मकारी साधन क्रिया की सहायता से दिन प्रतिदिन कुछ न कुछ उन्नत अवस्था में पहुँचता ही जायगा इसमें सन्देह नहीं। यदिच इसप्रकार के भोग प्रतिपादक साधन अति निकृष्ट साधन हैं, यदिच इस प्रकार के भोगसंयुक्त साधन सदा उत्तम अधिकारी के लिये भयदायक हैं, यदिच धर्म्मशास्त्र आदि की आज्ञा से विरुद्ध ही इन साधनों को समझा जासक्ता है, यदिच केवल तामसिक व कथंचित् राजसिक अधिकारी गण ही इस साधन मार्गके उपयोगी समझे जासक्ते हैं; तत्रच यह मानना ही पड़ेगा कि अधिकार–विचित्रतापूर्ण साधक

मंडली में, प्रवृत्ति और प्रकृति विचित्रतापूर्ण इस त्रिगुणात्मक मनुष्य समाज में इस प्रकार का साधन अधिकार रहनाभी अवश्य सम्भावी है।इसकारण तंत्र शास्त्रों में इस-प्रकारके निम्नअधिकार का साधन रहने से उनको कदापि दूषण नहीं लगासक्ते; वरन् उनको सर्व-जीव-हितकारी मान स्तुति करसक्ते हैं ।

तंत्रों के लक्षण वर्णन करते समय आचार्य्यगणोंने इन शास्त्रों के निराकरण में कहा है कि, "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च तंत्र निर्णय एवच । देवतानांच संस्थानं तीर्थानां चैव वर्णनम् ॥ तथैवाश्रमधर्मश्च विप्रसंस्थानमेवच । संस्थानञ्चैव भूतानां यंत्राणाञ्चैव निर्णयः ॥ उत्पत्तिर्विबुधानाञ्च तरूणां कल्प संज्ञितम् । संस्थानं ज्योतिषां चैव पुराणाख्यानमेवच ॥ कोषस्य कथनंचैव व्रतानां परिभाषणम् । शौचाशौचस्यचाख्यानं नरकाणाञ्च वर्णनम् ॥ हरचक्रस्यचाख्यानं स्त्रीपुंसोश्चैवलक्षणम्। राजधर्मोदानधर्मो युगधर्मस्तथैवच ॥ व्यवहारः कथ्यतेच तथाचाध्यात्मवर्णनम् । इत्यादिलक्षणैर्युक्तं तंत्रमित्यभिधीयते ॥ " अर्थात् सृष्टि प्रकरण, प्रलयप्रकरण, तंत्र-निर्णय, देवतासंस्थान, तीर्थवर्णन, ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमधर्म, ब्राह्मणादि वर्णधर्म्म, प्राणिसंस्थान, पुराणकथन, कोषकथन, व्रतवर्णन, शौचाशौचकथन, नरकवर्णन, हरचक्रकथन, स्त्री-पुरुषलक्षणवर्णन, राजधर्म्म, दानधर्म्म, युगधर्म्म, व्यवहार रीति, और आत्मा अनात्मानिर्णय इत्यादि विषय जिस शास्त्र में वर्णन किया गया हो उसको तंत्रशास्त्र कहते हैं । इन लक्षणों सेही प्रमाणित होसक्ता है कि अपने तंत्रशास्त्र समूह पूर्व कालमें अन्यान्य शास्त्रों के मध्य अमूल्य रत्न विशेष थे इसमें सन्देह मात्र नहीं । शोक का कारण केवल यही है कि यवन और बौद्ध आदि गत विप्लवों के कारण

अब तंत्रों के सब ग्रन्थ मिलते ही नहीं, और जो थोड़े बहुत ग्रन्थ मिलते हैं सोभी प्रायः असम्पूर्ण ही मिलते हैं ।

आचार्य्य विचार द्वारा तंत्रों को तीन भागों में विभक्त करसक्ते हैं, यथा श्रीसदाशिवोक्त तंत्र, श्रीपार्वतीकथित तंत्र एवं ऋषिगणप्रणीत तंत्र ग्रन्थ । तंत्रों के इन प्रणेतागणों के नाम द्वारा ही तंत्र की महिमा भली भांति प्रकाशित हो-रही है । कोई कोई पाश्चात्य विद्याभिमानीगण इस प्रकार की शंका किया करते हैं कि तंत्र-समूह प्राचीन आर्य-ग्रन्थ नहीं हैं किन्तु वह नवीन ग्रन्थ हैं; एवं अपने इस सिद्धान्त के पोषण में वे तंत्रों की अति सरल भाषा का प्रमाण दिया करते हैं। परन्तु भाषा की सरलता अथवा गम्भीरता से पूर्वोक्त शंका की सिद्धि कदापि नहीं होसक्ती, क्योंकि आर्ष ग्रन्थों में ऐसा देखने में आता है कि एक आचार्य्य ने ही कई प्रकार की भाषाऐं प्रणयन की हैं । श्रीमन् महर्षि वेदव्यास की वेदान्तसूत्रोक्त भाषा में, उनकी महाभारत की भाषा में और उनके श्रीमद्भागवत की भाषा में कितना-एक अन्तर प्रतीत होता है; श्री महाभारत एवं श्रीमद्भागवत की भाषा में इतना अन्तर है कि जिसके कारण से प्रायःही पंडितगण विमोहित होने लगते हैं और यह अनुमान करने लगते हैं कि, इन दोनों ग्रन्थों के आचार्य्य स्वतंत्र स्वतंत्र व्यक्ति हैं । नाना प्रकार के जीवगणों के कल्याणार्थ नाना अधिकार के ग्रन्थों में कई प्रकार की भाषाओं का प्रयोग करना कुछ असम्भव वा अयौक्तिक नहीं है । इस कारण सरल भाषाके विचार से पूर्वोक्त शंका स्थाई नहीं होसक्ती । कोई कोई महाशयगण तंत्रके आचार्य्य गणोंकी सत्यताके विषयमें भी सन्देह किया करते हैं, एवं कहा करते हैं कि शिवादि ईश्वर रूप द्वारा

तंत्रोंका प्रकाश होना कैसे सम्भव है ? क्या वे देवतागण रूप धारण करके तंत्र ग्रन्थ लिखने को प्रकट हुए थे? इत्यादि शंकाओं के उत्तर में कहा जासक्ता है कि जिसप्रकार परमेश्वर परमात्मा द्वारा वेदका कथन सम्भव होसक्ता है उसी प्रकार उनके अंशरूप शिवभावद्वारा तंत्रोंका प्रकाश होना भी सम्भावी है। अपौरुषेय, अनादि, अभ्रान्त और ज्ञानज्योतिःपूर्ण वेद-समूह जिस प्रकार जगदीश्वर परमात्मा की इंगित, इच्छा और आज्ञा से ऋचाओं के ऋषिगण द्वारा प्रकाशित हुए थे, उसी प्रकार श्रीमहादेव शिवजीकी इच्छा से उनके भक्त सिद्ध मुनिगण द्वारा तंत्र ग्रन्थोंका इस संसार में प्रकाश होना भी पूर्ण रूपेण युक्तियुक्त है ।

तंत्र-ग्रन्थों में शिरोमणि रूप महानिर्वाण तंत्र के प्रथम अध्याय में शिव पार्वती सम्वाद रूप से तंत्रशास्त्रों की भूमिका के वर्णन में इस प्रकार कथन है कि-"हे भगवन् ! हे सर्व भूतेश ! हे सर्वधर्म्मविदांवर ! तुम बड़े ऐश्वर्यशाली-कृपासमुद्र और सब के अन्तर्यामी हो । तुम्हारे द्वारा ही सृष्टि के आदिकाल में चतुर्वेदों का प्रकाश हुआथा; जिनवेद-समूह द्वारा सर्व प्रकार के धर्म्मों की वृद्धि और वर्णाश्रम नियम की प्रतिष्ठा होती आई है।उन वेदोक्त याग यज्ञ आदि रूप कर्म्म-समूहों से पृथिवी पर पुण्यशील मानवगण सत्य-युग के अंतर्गत सदा धर्म्म-साधन करते हुए देवतागण और पितृगणों की परितृप्ति किया करते थे । उस सत्ययुगमें मनुष्यगण स्वाध्याय, ध्यान, तपस्या, दया और दानादि धर्म्म कार्य्यों द्वारा जितेन्द्रिय हुआ करते थे। वे महाबल शाली, महावीर्य्यवान् और अत्यन्त सत्यपरायण होते थे। वे धर्म्मपर ऐसे दृढ़ थे कि स्वर्गादि लोकों में जाने की शक्ति

रखने पर एवं अत्यन्त शक्तियुक्त होनेपर भी साधु और सत्यवादी हुआ करते थे। उस युग के राजागण सत्य-संकल्पी और प्रजापालनतत्पर हुआ करते थे; वे परस्त्रियों को मातृवत् और प्रजागणों को पुत्रवत् समझा करते थे। उस समय के मानवगण पराये धनको लोष्ठवत् समझते थे और अपने २ स्वधर्म्म में सदा सर्वदा लिप्त रह-कर सन्मार्गानुगामी हुआ करते थे। उस श्रेष्ठ युगमें कोई पुरुष भी मिथ्यावादी नहीं होताथा, किसी काल में प्रमाद सेभी कोई चौर्य्यवृत्तिधारी, जीवदुःखदाई अथवा परस्त्री-गामी नहीं हुआ करते थे। उस समय पुरुषगण मात्सर्य्य-युक्त, अति क्रोधी अति लोभी अथवा कामुक देख नहीं पड़ते थे सब मनुष्यगण ही सदा आनन्द में मग्न रहा करते थे। उस उत्तम काल में भूमि शस्यशालिनी, मेघ समूह यथाकाल में वर्षणकारी, गो समूह बहुदुग्धवती और वृक्ष-समूह प्रचुर फलवान् हुआकरते थे। उस युग में किसी जीवकी भी अकालमृत्यु नहीं होतीथी, रोग अथवा दुर्भिक्ष का नाममात्र नहीं था। प्रजासमूह हृष्ट-पुष्ट, बलवान्, तेजरूप और सद्गुणसम्पन्न हुआ करते थे। स्त्रीगणों में व्यभिचार का नाम मात्र नहीं था और वे सदाही पतिभक्तिपरायणा हुआ करती थीं। उस उत्तम सत्ययुग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रगण अपने स्व स्व आचारों के अनुगामी होकर निज निज वर्ण मर्य्यादा के अनुसार धर्म्मसाधन करते हुए परम कल्याण को प्राप्त हुआ करते थे। जब सत्ययुग बीत चुका तो धर्म्म में व्यतिक्रम होने लगा। एवं तब मानवगण वेदोक्त सब कर्म्मों के ठीक २ अनुष्ठान करने में असम-र्थ होने लगे। तब भूरि-साधन-युक्त वैदिक-कर्म्म में

बहुत क्लेशदेखकर उन कर्म्मों से मन को फेरने लगे; परन्तु वैदिक कर्म्म के त्याग से पाप होने के भय वशात् कर्म्मों का एकबार ही त्याग न करसके; प्रत्युत वे उन कठिन कर्मों के सम्पादन करने में असमर्थ होकर सदाही कातर चित्त रहा करते थे। हे नाथ! उसी समय तुमने वेदार्थयुक्त स्मृति-शास्त्रों का प्रचार इस पृथिवी-मंडल पर कियाथा। उन श्रेष्ठ शास्त्र-समूह द्वारा तुमने दुःख, शोक, रोगप्रद पाप से जीवगणों की रक्षा की थी; त्रेतायुग के मनुष्यगण के वेदोक्त तपस्या और स्वाध्यायमें असमर्थ होने के कारण स्मृतिशास्त्रोक्त कर्म्मकांडोंने उनकी भलीभांति रक्षा की थी एवं उस समय के जीवों का उद्धार किया था। इस भयानक संसार समुद्र में तुम्हारे अतिरिक्त जीवसमूहों के भरणकर्त्ता, रक्षाकर्त्ता, उद्धारकर्त्ता और पिताकी नाईं प्रियकारी प्रभु और कौन हैं? तदनन्तर द्वापरयुग की उत्पत्ति में जीवगणों ने स्मृतिशास्त्रोक्त सुकृतियोंका त्याग कर दिया; धर्म्मार्द्धभाव लोप को प्राप्त होगया; तब मनुष्यगण मानसिक क्लेश और शारीरिक व्याधियोंसे आकुलायित होगये। तब तुम्हारे द्वारा ही व्यास आदि रूप से संहिता और पुराणआदि शास्त्र द्वारा संसार के जीवगणों का उद्धार हुआथा। ततपश्चात् पापरूपी, स्वधर्म्म-विलोपकारी, दुराचार-दुष्कर्म्मविस्तारकारी निकृष्ट कलि-युग का आगमन हुआ। तब वेदसमूह की प्रभुता जीवों के चित्त पर न रही; स्मृति-शास्त्र समूहों के शरण भी मनुष्य-गण न आसके, एवं नाना इतिहासपूर्ण सत्पथ प्रदर्शन-कारी पुराणशास्त्र भी कार्य्यकारी न होसके। हे प्रभो! इस प्रकार पुराण आदि शास्त्रों के लोपहोने पर मनुष्यगण जब धर्म्म कर्म्म विमुख होने लगेंगे और धर्म्मशृंखलाको

तोड़कर मदमें उन्मत्त, पापकर्म्म में रत, घोरकामी, अति लुब्धक, निर्दय, अति दुर्भाषी, शठ, अति अल्पायु विशिष्ट, मन्द बुद्धि, रोग शोक में आकुल, श्रीहीन, बलहीन, नीच-आचार परायण, नीच संगमें रत, परावित्तापहारक, अति नीच, परनिंदापरायण, परद्रोहकारी आदि दोषों से युक्त होने लगेंगे; परस्त्रीहरण में उनको कोई भी शंका न रहेगी, और वे सदा असत्कर्म्म करने में निर्भय रहेंगे, और सदा निर्धन, मलिन, दीन और चिर रोगी होवेंगे। विप्रसमूह जब संध्यावन्दनादि रहित होकर शूद्र सम आचार परायण, नीच जातियों के याचक, महालोभी, महादुर्वृत्त, पापकारी, मिथ्यावादी, मूर्ख, महाअभिमानी, दुष्ट, शास्त्र कथा विक्रयकारी, कन्या विक्रयकारी, संस्कार-विहीन और तपस्या, व्रत परांमुख होने लगेंगे। वे तब जीवसमूहोंके चित्त पर भ्रमडालने के निमित्त दिखावट में अति पूजा-परायण, परन्तु अंतर में अति घोर पापाचरण करने-वाले, अपने को पंडित करके माननेवाले, शास्त्रों में श्रद्धा-हीन और ईश्वर में भक्तिहीन होने लगेंगे। कलि के ब्राह्मणगण अशुद्ध तामसिक भोजन करनेवाले, नीच-आचार परायण, अपने ही पेट भरनेवाले, शूद्रों की सेवा करनेवाले, शूद्र–अन्न–भोजी, और शूद्र स्त्रियों में सम्भोग की इच्छा करने वाले होने लगेंगे। इहलोक में धन की इच्छा से अपनी स्त्रीगणों तक को नीच जाति में समर्पण कर सकेंगे, इनमें ब्राह्मण का चिन्ह केवल यज्ञसूत्रमात्र रहेगा, इन ब्राह्मण गणों के पान, भोजन का कोई भी नियम नहीं रहेगा और यह यथेच्छाचारी होंगे। यह श्रेष्ठ कुलोद्भवगण तब सर्वदा वेद और धर्म्मशास्त्रों की निन्दा और साधुगणोंसे द्रोह किया करेंगे। उनके मन में

सत्य संकल्प अथवा सत्वार्ता का उदयमात्रनहीं होगा; इसीकारण जीवगणों के कल्याणार्थ तुमने भोग और मुक्तिप्रद तंत्र–शास्त्रों का प्रणयन किया है। इस तंत्र-शास्त्र में देव देवी की उपासनार्थ मंत्र, साधन विधि, सृष्टि स्थिति संहाररूप बहु प्रकार के न्यास, पद्मासनादि बहु आसन और देवता समूहों के मंत्र सिद्धकारी "पशु भाव", "वीर भाव" और "दिव्य भावों" का वर्णन किया है। इन में शवासन, चितारोहण, मुंडसाधन और लतासाधन आदि बहु प्रकार के साधन तुम्हारे द्वारा वर्णित हुए हैं। यदिच पशुभाव और दिव्यभाव साधन के अर्थ भी तुम्हारी आज्ञा है परन्तु इस घोर कालिकालमें पशु और दिव्य भाव का साधन कैसे सम्भव होसक्ता है। जब पशुभावावलम्बी साधकगणों के अर्थ आज्ञा है कि वे पत्र, पुष्प, जल, फल आदि सब स्वयंही आहरण किया करें, शूद्रका दर्शनमात्र न करें और मनसे भी परस्त्रीका चिन्तन न किया करें। उसी प्रकार दिव्यभाव के अधिकारी साधकगण देवतुल्य ही होते हैं; वे सदा शुद्धान्तःकरण, द्वंद्वसहिष्णु, वासनारहित, सब भूतों में समदृष्टि करने-वाले और सदा क्षमावान् हुआ करते हैं। परन्तु कलि-काल के उस पापयुक्त समय में जीवगण सदा अस्थिरचित्त, निद्रा और आलस्यपरायण होंगे तब इन पूर्वोक्त दिव्य और पशु अधिकार द्वारा उनका कल्याण कैसे हो सक्ता है? हे शङ्कर! वीरभाव का साधन भी आपके द्वारा ही तंत्र-शास्त्रों में कहा गया है; मद्यमांसादि पंच तत्त्वका वर्णन भी आपही ने किया है। परन्तु कलिके मानवगण जब घोर लोभी और शिश्नोदरपरायण होंगे तो लोभके कारण वे इन पंचतत्त्वों से पतित होजायंगे और साधन

नहीं करसकेंगे । अर्थात् पशुभाव और दिव्यभाव के तो वे अधिकारी ही नहीं होसक्ते और "वीर भाव" के साधन में उनके पतित होने की शंका है। तो इस "वीर भाव" द्वारा कलियुग के जीवगणों का किस प्रकार से कल्याण होसक्ता है सो हे नाथ! कृपाकरके वर्णन करो* ! इत्यादि" सर्व श्रेष्ठ तंत्र ग्रन्थों में इस प्रकार की भूमिका के देखने से स्थिर बुद्धि जिज्ञासुमात्र ही तंत्रशास्त्रों का महिमा एवं कलियुग के जीवगणों के अर्थ ऐसे शास्त्रों की आवश्यकता को भलीभांति समझ सकेंगे। श्रीसदाशिव एवं श्रीपार्वतीसम्वाद-युक्त यह भूमिका ही तंत्रशास्त्रों का भलीभांति परिचय देरही है। किमधिकमिति ।

---

* श्रीपार्वतीजीके इस प्रश्न के समाधान में कि "वीरभावके साधन से कलियुगी मानवगणों के पतित होने की आशंका है, सो इसके द्वारा साधकों का कल्याण किस प्रकार होसक्ता है ?" श्रीभगवान् सदाशिवजी ने तंत्रशास्त्र में ही कल्याण का प्रकार और विधि वर्णन की है, सो तंत्र-शास्त्रको ही इस शंका का उत्तर समझना चाहिये; इस भूमिका में इस उक्त शंका का उत्तर न देखकर पाठकगण विचलित नहों ।

विशेष सूचना ।

विदित हो कि "निगमागममण्डली" प्रकाशित पुस्तकों का बुक-डिपो [प्रधानपुस्तकालय] श्री मथुराजी में स्थापित किया गया है;अतएव उसके प्रकाशित सब ग्रन्थरत्न धर्म्म जिज्ञासुओंको निम्न लिखित पतेसे विक्रय-नियमानुसार प्राप्त हो सकेंगे। विदेशीय ग्राहकों को पुस्तक अग्रिम मूल्य आने पर अथवा वेल्यूपेबिल पार्सल से भेजे जांयगे।

इन धर्म्म-ग्रन्थों का प्रचार जितना २ ही अधिक होगा उतनाही भारत-सन्तानों का कल्याण सम्भव है.इसहेतु इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये भारत के सभी प्रान्तों में ऐसी व्यवस्था कीजारही है कि जिससे सभी प्रान्तों के मनुष्यों को सुलभतया ये ग्रन्थरत्न उनके प्रान्तके मुख्य२नगरों द्वाराही प्राप्त होसकें; इसी से बंबई में (१) सेठ खेमराज श्रीकृष्णदास श्रीवेंकटेश्वर छापाखाना आदि(२) कलकत्ते में थियोसौफ़ीकल सोसाइटी,(३)काशी में देवनागरी प्रचारिणी सभा, (४)मद्रासमें थियोसौफ़ीकल बुकडिपो अडायर (५) पंजाबमें लाहौर का सनातन धर्म गज़ट व अखबार आम कार्यालय, (६) राजपूताने में पं०रामचन्द्र जी शास्त्री अलवर (७) मनीषि समर्थदान जी "राजस्थान प्रेस"अजमेर और (८) पं० रामकर्ण श्यामकर्ण "प्रताप प्रेस" जोधपुर आदिके द्वारा इन ग्रन्थों के प्रसारकी व्यवस्था की गई है। इनके अतिरिक्त हमको भारतके अन्यान्य सभी प्रांतों के बड़े २ नगरों में सहायक एजेन्ट नियत करने की इच्छा है; धर्म्म-बुद्धिवाले उत्साही पुरुष एवं विशेषतः पुस्तक विक्रेतागण इस डिपो के एजेन्ट होसक्ते हैं जिनको उचित कमीशन भी दिया जायगा। नियम निम्न लिखित पते पर पत्र व्यवहार करने से स्थिर होसक्ते हैं।

ठाकुरप्रसाद शर्म्मा,
"निगमागममण्डली-बुकडिपो"–मथुरा।



हेमन्तऋतुः—कलाब्दाः ४९९८.

भाग २..	मार्गशीर्ष एवं पौषमास.	संख्या ५.

ब्रह्मचर्य्यआश्रम ।



सनातनधर्म्मानुसार जैसे चार वर्ण हैं वैसे ही चार आश्रम हैं। मनुष्य-जीवन स्वभावतः चार अवस्था का होताहै;-(१)-प्रथम अवस्था वह होती है जिसमें विद्या, बल, आचार आदि गुणों का लाभ हो और याव-जीवन प्रसन्न रहने का मूल बँधे। (२)-दूसरी अवस्था वह होती है जिसमें प्रथम अवस्थामें सम्पादन किये गुणों से कार्य्य लिया जाय और धर्म्म, अर्थ, काम, इस त्रिवर्ग के पूर्णलाभपूर्वक मोक्ष का मूल बांधा जाय।

(३)–तीसरी अवस्था वह है जिसमें त्यागका अभ्यास किया जाय। (४)–चौथी अवस्था वह है जिसमें त्याग किया जाय ॥

अथवा इसी बात को दूसरे प्रकार से समझिये। इस मनुष्य की जीवन–यात्रा के लिये दो मार्ग हैं। एक प्रवृत्ति, दूसरा निवृत्ति । यह स्वयं सब लोग समझ सकते हैं कि यहां हमारा कहने का तात्पर्य्य इन प्रवृत्ति निवृत्तियों से नहीं हैं जो प्रतिदिन भोजन, शयन आदि में होती हैं और मिटती हैं, परन्तु यहां प्रवृत्ति निवृत्ति से शास्त्रीय–प्रवृत्ति–निवृत्ति का तात्पर्य्य है ॥

प्रवृत्तिमार्ग दो अंशमें विभक्त है; एक में प्रवृत्तिके नियम सीखे जाँय और अपनी योग्यताका लाभ किया जाय; दूसरी में नियमानुसार प्रवृत्ति कीजाय और प्रवृत्तिके फलों का लाभ किया जाय। वैसेही निवृत्ति के लिये भी दो अवस्था होती हैं, एक जिसमें निवृत्ति के नियमों का लाभ किया जाता है; और दूसरी में निवृत्ति अर्थात् संन्यास का ग्रहण किया जाता है । यों चार अवस्था होती हैं ।

इसी वार्ता को चाहे तीसरे प्रकार से इस तरह समझिये कि जीवन के चार भेद हैं। उपचय, परिणाम, अपचय, और क्षय; इन्हीं को शास्त्रविहित प्रकार से वर्तना चातुराश्रम्य है। यही चार अवस्था चार आश्रम कहलाते हैं। इन आश्रमों में यद्यपि अनुभव ही से मालूम होता है कि कैसे वर्तना चाहिये तौभी शास्त्रमें इन आश्रमों के भिन्न २ नियम बांधे हैं । चारों आश्रम अपने अपने विहित नियमके अनुसार रहैं यही धर्म्म है; क्योंकि भगवान् जैमिनि ने धर्म्मस्वरूप यों लिखा है । " वेदप्रतिपाद्य चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः " । तथा मनुः " वेदोऽखिलो

धर्म्ममूलं स्मृतिशीलेच तद्विदाम् । आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेवच । ” इत्यादि; इन चारों आश्रमों में से प्रथम आश्रमका नाम ब्रह्मचर्य्य है। यह तो स्पष्ट ही है कि जब तक बाल्यावस्था है और उपनयनभी नहीं हुआ है तबतक उसका जीवन और संस्कार केवल मातापिता के आधीन रहते हैं; और वह अवस्था इतनी मुग्धता की है कि वह चारों आश्रमों से बाहर समझी जाती है। इसलिये उस अवस्था का ब्राह्मण भी शूद्रवत् समझा जाता है। जैसे कहा है कि "जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात द्विज उच्यते" इत्यादि वचनों का यही तात्पर्य्य है । शास्त्रकारोंने भी उपनयन के पूर्व्व कृत्यों को मातृ–पितृ–कर्तृकही माना है ।

पहले कहआये हैं कि प्रथम अवस्था वह होती है कि जिस में विद्या, बल, आदि गुणों का लाभहो और यावज्जीवन प्रसन्न रहने का मूल बँधे; सो ब्रह्मचर्य्य के ये दोही अंग प्रधान हैं एक अध्ययन, दूसरा संयम । कितनेही कर्म्म तो अध्ययनांग हैं जैसे गुरुसेवा इत्यादि, और कितने ही संयमांगहैं जैसे हविष्य भोजन इत्यादि ॥

ब्रह्मचर्य्य-आश्रम का आरंभ उपनयन के अनन्तर होता है और विवाह पर्य्यंत ब्रह्मचर्य्य आश्रमही स्थिर रहता है।कैसे शोक की बात है कि इन दिनों में उपनयन और ब्रह्मचर्य्य का एक तमाशा सा किया जाता है; शास्त्र में ब्रह्मचर्य्य का काल इस रीति से लिखा है कि छत्तीस, अठारह, वा नव वर्ष परिमित ब्रह्मचर्य्य रखके वेदाभ्यास करना, अर्थात् वेदत्रयी में प्रति वेद बारह वर्ष के हिसाबसे छत्तीसवर्ष अभ्यास का काल कहा है, और प्रति वेद छःवर्ष के हिसाबसे अठारह वर्ष होतेहैं, और प्रति वेद

तीन वर्ष के हिसाबसे नव वर्ष होते हैं। अब उक्त काल से न्यूनाधिक काल में अर्थात् जितने काल में सांगवेद-त्रयका अभ्यास होसके तब तक ब्रह्मचर्य्यव्रत रक्खे, अथवा स्वशक्त्यनुसार वेदत्रय वा वेदद्वय, वा एकही वेदसांगका अभ्यास करे, और तबतक ब्रह्मचर्य्य का निर्वाह करे। और जैसे कि मनुजीने वेदत्रय काही अभ्यास करना कहा है, चौथे अथर्ववेदका नामोद्देश नहीं कहा है, उसका कारण यह है कि अथर्ववेद ऋग्वेदका एक भाग है इसीलिये पृथक् निर्देश नहीं कियाहै परन्तु छान्दोग्य में कहा है कि "ऋग्वेदं च यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम्" विष्णु पुराण में भी लिखा है कि, "अङ्गानिवेदाश्चत्वारः" इन वाक्योंमें अथर्ववेदको अलग कहा है तोभी अथर्व में विशेष-अभिचार प्रयोग हैं इससे वेदत्रयहीका अधिक वर्णन है परन्तु इससे कुछ अथर्व वेद का निषेध नहीं किया है॥

उपनयन–संस्कार आजकलभी यथाकथंचित् होता है, परन्तु काल का ऐसा फेरफार हो रहा है कि पहले तो वर्णत्रय उपनयन करते नहीं है, और जो ब्राह्मणों में करते भी हैं तो कालका नियम नहीं रखते; कोई कोई तो सात वा आठवर्ष के भीतर ही करलेते हैं, और कोई कोई कालातिक्रमका कुछ विचार न करके केवल इतनाही समझते हैं कि उपनयन विवाह के पूर्व होना चाहिये, इससे चाहे जितने वर्ष का हो विवाह के साथ वा विवाह के दो चार दिन पहले जनेऊ पहरा देते हैं। और कालातिक्रमका प्रायश्चित्तरूप व्रात्य-स्तोम नाम का यज्ञ होता है सो कोई करता ही नहीं

है, और उपनयनांग-व्रत-चतुष्टयके लिये केवल "बाढ़म् बाढ़म्" कहके एक दो मिनट में ब्रह्मचर्य्य समाप्त किया जाताहै; छत्तीस, अठारह, नौ, वर्षके ठिकाने एकही दिवस में सब कुछ करलेते हैं, और वेदाभ्यास करने के विषय में वेदत्रय के ठिकाने किसी प्रकार एक दो मंत्र उच्चारण करलेते हैं । इस फेरफार में और किस को दोष दें इसे कलिकालकाही प्रभाव कह सकते हैं।

उपनयन का मुख्य उद्देश विद्याभ्यास और ब्रह्मचर्य्य है । उसमें विद्याभ्यास तो प्रायः अभी आठवें वर्षके लगभगसे बारह, पन्दरह वर्षतक सब वर्णवाले करतेहैं, परन्तु वेदविद्या तथा आत्मविद्याके पठनपाठनकी बुद्धिमें दिन दिन मलिनताका आधिक्य होता जाता है; प्राचीन काल में आर्य्य राजा होने के कारण यही अध्ययनकी परिपाटी धर्म्म प्रधान थी । और उसके फलभी सदाचार, आत्मज्ञान, योगविद्या, तपोबल, अलौकिक-शक्ति आदि प्रत्यक्ष ही थे । परन्तु इनदिनों की अध्ययन-परिपाटी केवल जीविकार्थ ही रहगई है। अतएव इससे वे महान् और अभ्यर्हित फल नहीं होते, किन्तु बहुत फल हुआ तो जीविकामात्र होके रह जाती है ॥

आजकाल वेदविद्या की तो ऐसी दुर्दशा होगई है कि स्मरण करने से रोमांच होता है । स्कूलों के पढ़नेवालों को तो वेद से सम्बन्धही नहीं है, यदि एम. ए. कोर्स के लिये थोड़ा चालीस पचास पन्ना पढ़ाभी तो परीक्षा ही देना उसका फल हुआ; फिर संस्कृत में तो एक चिट्ठी भी

लिख नहीं सकते वेदको क्या सीखेंगे और क्या उसका अनुशीलन रक्खेंगे। रहे पंडिताई के ढंगसे पढ़ने वाले छात्र सोभी सांगवेद पढ़ने की प्राचीन परिपाटी छोड़ केवल न्याय व्याकरण के खर्रे घोख लेते हैं। हमारे पंडित दलमें यह कैसी शोक की बात प्रचलित होगई है कि जहां सिद्धान्तकौमुदीका आरम्भ किया कि "मुनित्रयं नमस्कृत्य" बस यहां हीसे खर्रे की घुखंत शुरू हुई; अब आप "मुनित्रयं" पर तो सुंघनी उछाल हाथ फटकार दो घंटे शास्त्रार्थ करेंगे पर संस्कृत लिखने और बोलनेमें संधि भी ठीक न होगी। ऐसे ही न्यायवाले छात्र "गन्धवती पृथिवी" बस इस पर तो इतना शास्त्रार्थ करेंगे कि सुननेवालों केभी सिर और कान समाप्त होजायें, पर पदार्थ-विवेचन कभी इतना मोटा मोटा भी न करेंगे कि सुवर्णादि धातु आकरज तेज माने गये हैं पर तेज हैं तो इनमें गुरुत्व कैसा और गुरुत्व को औपाधिक कहैं तो फिर गुरुत्व के सहचर द्रवत्व को भी औपाधिक क्यों नहीं कहते, घनता और द्रवता नाहक तेजमें क्यों ठूंसतेहैं ? आजकलके तार्किकों का तांडव केवल अभावजन्यजनकभाव, और प्रतिबंध्य प्रतिबन्धकभाव परहै और नतो पदार्थविवेचन पर कुछ बलहै और न वेदार्थ संघटनका स्वप्न भी कभी वे लोग देखते हैं। इस रीतिके शाब्दिक और तार्किकों से सांगवेदकी उन्नति की क्या आशा है; वे क्या जानें कि कै वेद हैं और उनमें क्या क्या विषय हैं। भला नित्यके सन्ध्या तर्पणमें जितने वेद के मंत्र आते हैं उन्हीं का वे ठीक उच्चारण करैं तो बहुत है। अब

इन प्रधान पंडिताई के अभिमानी छात्रों की यह दशा है तो बिचारे हर्र, बहेड़ा आंवला वाले वैद्य और भरणी,भद्रा, व्यतीपात वाले ज्योतिर्वित्ताओंसे और षड़ङ्ग वेदसे क्या सम्बन्ध। यदि कहो कि कर्म्मकांडी लोग वेद पढ़ते है तो उनकी भी कालप्रभाव से यह दशा होगई है कि वे इतना ही जानते हैं कि इस मंत्रसे स्वाहा और इसमंत्र से स्वधा। मंत्रार्थसे उनसे भी प्रायः सम्बन्ध न रहा। अब बचे बिचारे वैदिक लोग सो इनकी शोचनीय दशा सुनिये। केवल इस अंशमें तो ये धन्य हैं कि वेदमात्र के अनुशीलन में समस्त जीवन व्यतीत कर देते हैं और सहस्रों मंत्रों के संघट्टको पद पद ऐसा याद रखते हैं कि विदेशीय विद्वान् लोग भी चक्कर में पड़ जाते हैं, परन्तु न तो इनको अर्थ-ज्ञानकी सामग्री–स्वरूप न्याय, काव्य, कोषके पुस्तकों का कभी दर्शन होता है, और न इन्हें कभी किसी मंत्रकाही अर्थ सिखलाया जाताहै। बस वही बात हुई कि "धनी उदार नहीं,और उदार केपास धन नहीं;"इधर पंडितों के पास वेदार्थज्ञान–सामग्री है तो वेद नहीं, उधर वैदिकों के पास वेद हैं तो वेदार्थ नहीं! अब यदि वेदान्तियों की बात पूछिये तो उनको उतनी ही श्रुतियोंका अभ्यास रहता है जिनकी चर्चा उनके ग्रन्थों में आती रहती है॥

बस विद्याभ्यास के इन्ही उलट फेरों के बुरे फल ये प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं कि पुरोहित लोग केवल यजमानों को "अशुद्ध पशुद्ध" श्राद्धतर्पण करवाते टके गिनवाते रहगये, यजमान लोगभी "ब्राह्मण वचन प्रमाण" कहते दांत निकाले रहगये; और पण्डे लोग "मांसानां मांसोत्तमे मांसे,

मार्गशीर्षे मासे, नहाओ महाराज !" करते रहगये; तथा प्रायः पंडित लोग पेड़े और दक्षिणावाली सभाओं में अवच्छेद कलाओंको नचाते रहगये; इन्हीं उपद्रवों का फल यह हुआ कि सनातनधर्म्म तो अतिक्षीण होगया और भारतवर्ष की ऐसी दुर्दशा होगई कि देखते हुए रुलाई आने लगी !!

लीजिये ब्रह्मचर्याश्रमका प्रधान उद्देश विद्या है उसकी तो यह दशा है। अब दूसरी बात "वीर्य्य रक्षा" है; यह ऐसा प्रधान उद्देश्यहै कि ब्रह्मचर्य्य शब्द इसीमें रूढ़ होगया है। हा! जब भारतवर्ष में प्रायः हम ऐसा देखते हैं कि नङ्गे फिरते लड़के लड़कियों की सगाई होगई, और पूरा हाथ धोंना भी न आया कि विवाह होगया; तब हम क्या ब्रह्मचर्य्य की बात कहें । अहा ! पूर्व्वकालमें इसी ब्रह्मचर्य्य के द्वारा ब्राह्मणवर्ग अपने तेज, बल, विद्या, आयु, आदिको बढ़ा कर समस्त विद्याओंका प्रचार करते और परब्रह्मकी प्राप्ति करतेथे । अर्थात् अपने उपदेशों के बल से चारों वर्ण तथा आश्रमों को उचित रीतिसे अपने अपने कार्य्यों में स्थिर रखतेथे। अभी तक उन आचार्य्यों के ग्रन्थ देखिये, उनका गणित सारी पृथिवी के गणितों का मूल है, और उनकी आध्यात्मिकविद्या अभीतक अन्य देशों में पूरी समझी जाने योग्य नहीं हुई; और उनका व्याकरण ऐसे चमत्कारों से भरा है कि संस्कृत व्याकरणके आगे अन्य देशों के व्याकरण कहानी से जान पड़ते हैं । किसी समय क्षत्रियवर्गभी इसी ब्रह्मचर्य्य के कारण ऐसे शौर्य्य, वीर्य्य, धैर्य्य, चातुर्य्य, गाम्भी-

र्य्यादि से युक्त होते थे कि यथोचित शास्त्रादि विद्याओं का सम्पादन कर प्रजाओंका शासन पालन करते और शत्रुओं का विजय करते थे। वैश्यों ने भी किसी-दिन इस ब्रह्मचर्य्य ही के कारण ऐसी अपूर्व शक्ति बढ़ाई थी कि अपने चातुर्य्य से वाणिज्यको बढ़ाकर स्पेन, ग्रीस, हालेंड, मिसर, के रहनेवालों के हृदयों पर भी भारतवर्ष को खचित कर दियाथा, और उन उन देशों में घर घर भारत के बने चित्र, आस्तरण, पात्र, आभरण, खिलोने आदि व्याप्त कर दियेथे तथा वहां की संपत्ति से भारत को पूर्ण कर दियाथा। यह केवल ब्रह्मचर्य्य-आश्रम के लोप काही कारण है कि अग्रजन्मा ब्राह्मणगणने अब केवल " हंतकारी " की रोटियों पर ही अपने पूर्व गौरव को विक्रय कर रक्खा है, एवं कुक्कुर-वृत्ति और दास-भाव को ही अपना परम पुरुषार्थ करके मान रक्खा है यह केवल ब्रह्मचर्य्य-आश्रम के लोप काही कारण है कि आर्य्यकुल गौरव क्षत्रिय राजागण अपने पूर्व अतुलनीय सन्मान को विस्मृत हो उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करने में ही अपने सन्मान की वृद्धि समझने लगे हैं। ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज इन दोंनों तेज बलोंके द्वारा ही धर्म्म की रक्षा हुआ करती है; परन्तु यह ब्रह्मचर्य्य आश्रमके लोपकाही कारण है कि भारतवर्ष से इन दोंनों तेजों के नाशके साथही साथ रत्नगर्भ और धर्म्माचार्य्य भारत आजदिन भिखारी और धर्म्मपतित हो रहा है॥

आजदिन साधुगणों में एक प्रकार की ब्रह्मचारी संज्ञा सुनने में आया करती है। परन्तु वह ब्रह्मचर्य्य यथार्थ में शास्त्रोक्त ब्रह्मचर्य्य रूपी प्रथम आश्रम नहीं है। वह संन्यास आश्रम काही एक भेद है; एवं उस साधन में शिखा और सूत्रकी स्थिति रहने के कारण एवं उस अवस्था में स्त्री-संस्पर्श का पूर्ण रूपेण त्याग होजानेके कारण साधारण रूपेण साधुगणोंकी उस अवस्था को ब्रह्मचर्य्य कहते हैं; परन्तु यथार्थ में वह चतुर्थ आश्रम है। शास्त्रों में लेख है कि कलियुग में वानप्रस्थ-आश्रम का निर्वाह होना कठिन होने के कारण एकवार ही संन्यास-आश्रम ग्रहण करलिया जाय, परन्तु प्रथमं कुछ दिनोंतक शिखा सूत्र आदि चिह्नों को धारण करके परिव्राजक अवस्था में तीर्थसेवन किया जाय तत्पश्चात् उचित समझने पर उन चिह्नोंका त्याग कर दिया जाय। इसी शास्त्रीय भित्ती पर स्थित रहकर नवीन आचार्य्यगणोंने साधुगणों में इस ब्रह्मचारी पद की सृष्टि की है। इस कारण ब्रह्मचर्य्य-आश्रम विचार करते हुए इस साधुसमाज पर दृष्टि डालकर गृहस्थगणों को अपना कर्त्तव्य नहीं भूलना उचित है॥

प्रवृत्तिमार्ग ही निवृत्तिमार्ग का आदि है; अर्थात् प्रवृत्तिमार्ग में यथाविधि से विषयोंका भोग करने से ही निवृत्तिं पदकी प्राप्ति हुआ करती है। एवं प्रवृत्तिमार्ग का आदिही ब्रह्मचर्य्य रूपी प्रथम आश्रम है। इस कारण इस प्रबन्धोक्त धर्म्म-मर्य्यादा ही यावन्मात्र धर्म्मों का आदि एवं बीज रूप हुआ। जबतक प्रथम अवस्था में ब्रह्मचर्य्यव्रतका यथावत् निर्वाह नहीं किया

जायगा तबतक अन्यान्य धर्म्मों का यथावत् निर्वाह होना कठिन ही है। इस कारण वर्त्तमान समय में जो स्वदेश-हितैषी अपने देश व आर्य्यजातिका कल्याण चाहैं वे अवश्य इस प्रथम आश्रम के संस्कार करने में कटिबद्ध हों। यदिच प्राचीन काल की रीति के अनुसार आजदिन पूर्णरूपेण इस आश्रम के धर्म्मों का निर्वाह होना कठिन है, परन्तु आपद्धर्म्म के अनुसार कुछ लघुनियम स्थापन पूर्वक अवश्यही इसका निर्वाह हो सकेगा। इस आश्रम के निर्वाह करणार्थ सबसे प्रथम विवाह शैली के संशोधनकी आवश्यकता है। जबतक बाल्यविवाह की अशास्त्रीय रीति न उठा दी जायगी तबतक कदापि इस आश्रम की स्थापना नहीं होसक्ती। पिता माता ही बालक के धर्म्म-शिक्षा संबन्ध में आदि गुरु हैं; शास्त्रों में लेख है कि जो पिता बालक को यथायोग्य पठन और ब्रह्मचर्य्य आदि नियमों की शिक्षा न दे वह पिता पशुवत् है; एवं ऐसा पिता नरक का भागी हुआ करता है। परन्तु आज-कलके पिताओं की गति देखकर हृदय विदीर्ण ही होता है; आजकलके पितागण अपने पुत्रगणों को अध्यात्म-विद्या व ब्रह्मचर्य्य की कुछभी शिक्षान देकर, केवल मोह के वशीभूत हो बाल्यविवाह द्वारा बालकपनमें ही उनके ब्रह्मचर्य्य का नाश एवं लौकिक शिक्षा द्वारा उनकी आध्यात्मिक-उन्नतिका अवरोध करके बालकगणों के अल्पायु और अधार्मिक होने का कारण होजाया करते हैं। यदिच पुत्रके अर्थ पिता ही परम गुरु हैं परन्तु

आजदिन अविद्या के कारण परम गुरुपदवाच्य होने पर भी वे शत्रु होरहे हैं ॥

केवल बाल्यविवाह के अवरोध सेही ब्रह्मचर्य्य-आश्रम की उन्नति नहीं हो सकेगी । क्योंकि आजकल प्रायः देखने में आता है कि बालकगण कुसंग के प्रभाव से स्त्रीसंसर्ग के विनाही अपने ब्रह्मचर्य्यव्रतका खंडन किया करते हैं । केवल सदाचारों की शिक्षा न देनाही इस घोर आपत्ति का कारण है । इस कारण कम से कम अष्टदश वर्ष (१८) पर्यन्त ब्रह्मचर्य्यव्रत बालकगणों को अवश्य धारण करवाया जाय; एवं अतिशैशव अवस्था से ही उनको आश्रम उपयोगी नित्यकर्म्म, ईश्वर उपासना एवं सदाचारों का अभ्यास कराया जाय। यदि प्रथम अवस्था से बालक गणों में ईश्वरप्रणिधान और सदाचारों का कुछ संस्कार होजायगा तो वे पुनःयौवन के प्रारम्भ में एकाएक कदापि अपने व्रतको खंडन न कर सकेंगे। चाहे कैसे ही विद्याभ्यास बालकगणों को करायाजाय, चाहे अर्थकरी अंग्रेज़ी विद्याका अभ्यास उनको कराया जाय, अथवा ज्ञानप्रदायिनी संस्कृतविद्या कीही शिक्षा उनको दीजाय; परन्तु सकल अवस्था में ही कम से कम अष्टदश वर्ष पर्यन्त इस ब्रह्मचर्य्यव्रतका साधन बालकगणों से करवाना उचित है । यदिच प्राचीन ब्रह्मचर्य्य आश्रम के नियम अब पूर्णरूपेण कार्य्यकारी नहीं हो सक्ते; परन्तु वर्त्तमान देश काल पात्र के अनुसार उन प्राचीन कठिन नियमोंका संस्कार करके कुछ नवीन सुकौशलपूर्ण नियम अवश्य बनाये जांय । एवं उन्हीं नियमों के

अनुसार जब प्रथम अवस्था में "ब्रह्मचर्य्यव्रत" का पालन होजायगा तब ही भविष्यत् में भारतवासीगण ऐहलौकिक और पारलौकिक कल्याण प्राप्त करने में समर्थ हो सकेंगे। अन्यथा नहीं। किमधिकमिति॥

सृष्टि के प्राचीनत्व पर भारत का मत।

बायबल और कुरान विश्वासकारीगण यही विश्वास करते हैं कि पृथिवी की सृष्टि केवल गत तीन सहस्र वर्ष के लगभगसेही हुई है; उनके विचार में मानवजाति की उत्पत्ति इस समय के अन्तर्गत ही है। परन्तु आर्य्यशास्त्र पृथिवी-सृष्टि को और विलक्षणरूप से ही वर्णन किया करते हैं, और उसकी बहुत ही प्राचीनता सिद्ध किया करते हैं। आर्य्यशास्त्रों में लेख है कि मनुष्यगणों के छःमास का एक अयन कहाता है, दो अयन का एक वर्ष होता है; ऐसे मानवगणों का एक वर्ष एक दैवअहोरात्र के तुल्य है। इस प्रकार के दैव-अहोरात्र से दैव-सम्वत्सर भी समझलेना उचित है; ऐसे द्वादश सहस्र दैववर्ष से एक महायुग होता है; दो सहस्र महायुग से एक ब्रह्मा का अहोरात्र होता है; ऐसे ब्रह्मा का अहोरात्र ही एक कल्प कहाता है। कहीं कहीं ७१ दैवयुग का एक इन्द्रपतन, १४ इन्द्रपतन का एक मन्वन्तर, ७१ महायुग का एक मनुपतन, १४ मन्वन्तर का एक ब्राह्मअहोरात्र इस रीति पर विभिन्न प्रकार से वर्णन देखने में आते हैं॥

एक एक ब्राह्मअहोरात्र अर्थात् एक एक कल्प में एक एक ब्राह्मप्रलय हो जाता है; ब्रह्मा जी अपने अहोरात्र के दिवाभाग में सृष्टि रचकर रात्रि भाग में निद्रित होजाते हैं; पुनः निद्रा से उठ कर देखते हैं कि इस अवस्था में सृष्टि का प्रलय हो गया है; तो पुनः वे सृष्टि-क्रिया आरम्भ करदेते हैं। इस रीति पर ब्रह्मा के एक अहोरात्र को एक मानव-महाकल्प भी कहते हैं। ३६९ ब्राह्मअहोरात्र का एक ब्राह्मसम्वत्सर; १०० ब्राह्मवर्ष का एक ब्राह्मपतन; अर्थात् ५० ब्राह्मवर्ष का एक परार्द्ध, और दो परार्द्ध का एक ब्राह्मशताब्दि हुआ करता है। ऐसे १०० वर्ष की आयु के अनन्तर ब्रह्मा का लय हो जाता है; ब्रह्मा जी के लय से जो महाप्रलय होता है उस को प्राकृतप्रलय भी कहते हैं। पूर्व्व लिखित ब्रह्मा जी की आयु का प्रथम परार्द्ध हो-चुका है, अब द्वितीय परार्द्ध का प्रथम दिवस अर्थात् प्रथम कल्प चलरहा है जिस कल्प का नाम वराहकल्प है; कहीं कहीं इस की श्वेतवराहकल्प भी संज्ञा कीगई है, क्योंकि पूर्व्व में कृष्णवराहकल्प और रक्तवराहकल्प आदि नाम से बहुत से वराहकल्प वीत चुके हैं। ऐसे श्वेतवराह-कल्प का परिमाण ४३२००००००० मानव वर्ष हैं; जिस में से १९७२९४८९६८ व्यतीत होचुके हैं। मानवयुग प्रमाण के सम्बन्ध में ऐसा लेख है कि, १७२८००० वर्ष का सत्ययुग, १२९६००० वर्ष का त्रेतायुग, ८६४०००वर्ष का द्वापरयुग, और ४३२००० वर्ष का कलियुग हुआ करता है; जिस में से सत्य, त्रेता, द्वापरयुग वीत कर अब कलियुग के भी लगभग पांच सहस्र वर्ष वीत चुके हैं। आर्य्यशास्त्रों

का यह सृष्टि-आयु-प्रमाण सुनने से बायबल और कुरान कथित सृष्टि-आयु-प्रमाण बालकों की उक्ति प्रतीत होती है । पूर्व्ववर्त्ती पश्चिमी विद्वान्गण आर्य्य-शास्त्रोक्त ऐसे प्रमाणों को देखकर चौंका करते थे और इन संख्याओं को कवि की कल्पना कह डालते थे, परन्तु जब से यूरोप में विज्ञानशास्त्र की पूर्ण उन्नति हुई है तब से उन का यह सन्देह दूर होने लगा है। भूतत्त्व-वित् वैज्ञानिकगणों ने पृथिवी की प्रस्तर-परीक्षा द्वारा यह सिद्धान्त करलिया है कि प्राकृतिक नियम के अनुसार उन में ऐसा परिवर्तन लक्षों वर्ष में हो सकता है; इस कारण अगत्या वे बाइबिल और कुरान के मत को भ्रमपूर्ण समझने लगे हैं । आजकल के नाना शास्त्र-वेत्ता वैज्ञानिक गणों ने यह निश्चय किया है कि, सूर्य्य-गर्भ से पृथिवी की उत्पत्ति, और पृथिवीगर्भ से चन्द्र की उत्पत्ति हुई है; जिस में से पृथिवीगर्भ से चन्द्र की उत्पत्ति का प्रमाण वे ५०००००००० वर्ष अनुमान करते हैं, और इसी रीति पर यदि सूर्य्य से पृथिवी सृष्टि का अनुमान किया जाय तो संख्या बहुत ही कुछ बढ़ जायगी, चन्द्रोत्पत्ति की संख्या से पृथिवी की उत्पत्ति की संख्या का प्रमाण बहुत ही बढ़ जाने का कारण यह है कि यह वैज्ञानिकगण चन्द्र को अभीतक असम्पूर्ण ग्रह ही मानते हैं, परन्तु पृथिवी सम्पूर्ण ग्रह है । पाश्चिमी वैज्ञानिकगणों के इन अनुसंधानों को देख कर अब कोई भी आर्य्यशास्त्रोक्त-सृष्टि-प्रमाण को मिथ्या नहीं मान सकता; इस कारण उनके

ही वाक्य द्वारा आर्य्यज्ञान और आर्य्य जातिकी प्राचीनता सिद्ध हुई । प्रथम तो सिवाय आर्य्यजाति के और किसी को भी पृथिवी के प्राचीनत्व का बोध नहीं है, द्वितीय आर्य्यजाति के अतिरिक्त अन्यान्य जातिगणों में से किसी को भी अपने पूर्व पुरुषों का यथावत् ज्ञान नहीं है; तो उन पश्चिमी विद्वानों के कहने पर कैसे कोई विश्वास कर सकता है कि भारतीय आर्य्य जाति तथा यूरोपीयजाति गण सब तीन सहस्रवर्ष पूर्व मध्य एशिया में असभ्य होकर एकत्रित वास किया करते थे। जो जाति आजदिन केवल डेढ़ वा दो सहस्र वर्ष का पता लगा सकती है बुद्धिमान्गण उसके कहने का विश्वास करेंगे अथवा वह आर्य्यजाति जो लक्षों वर्षों का दृढ़प्रमाणदेती है उस के सिद्धान्तों पर विश्वास करेंगे ? यूरोपीय ऐतिहासिक गण मध्यएशिया में सब मनुष्य जाति के वास का जो प्रमाण दिया करते हैं वह केवल कवि-कल्पना मात्र है, क्योंकि आज दिन तक कोई भी पश्चिमी ऐतिहासिक पण्डित इस विषय में दृढ़ प्रमाण नहीं दे सकेहैं। यूरोपीय-जाति का पूर्वदिशा से यूरोप में जाकर वास करने का प्रमाण मिलता है, परन्तु उस प्रमाण से भारतीय आर्य्य-गणों के मध्यएशिया वास का कोई भी सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता; किन्तु उससे यही सिद्ध होता है कि यूरोपीय जाति गण भारत-वर्ष के निकले हुए सदाचारभ्रष्ट आर्य्य सन्तानगणोंकी ही संतति है। जब नवीन यूरोपीय ऐतिहासिकगण आर्य्यगणों के मध्यएशियामें रहने का कोई विश्वास-उपयोगी प्रमाण नहीं देसकते;परन्तु अपने आर्य्य-ग्रन्थों में यह दृढ़ प्रमाण मिलता है कि भारतवर्षही पृथिवी

भर में प्रधान और कर्म्मभूमि होनेके कारण यही आदि सृष्टि हुई थी तो यूरोपीयगणों का वह सिद्धान्त भ्रम ही है । द्वितीयतः यूरोपीय गण जब आदि सृष्टि के विषय में केवल असंलग्न और अयौक्तिक बालकवत्-वाक्य कहते हैं; एवं उनके ही वैज्ञानिक प्रमाण द्वारा अपने सृष्टि-मत की सिद्धि होरही है तो पुनः अपने मतके सिद्धान्त में और कुछ सन्देह शेषही नहीं रहा । भारतवर्ष ही अनादि सृष्टि-भूमि है एवं प्राचीन आर्य्यजाति ही आदि मानवजाति है इसमें सन्देह मात्र नहीं । एवं अति पुराकाल में यही सृष्टि हुई थी ।



रागिनी गाराभैरवी, ताल मध्यमान ।

अव भी कहा नहिं कीनों छिमा, (अपराध मेरो ।)
असह्य दुःख अव सहि न जाय मा ॥ १ ॥
लघुकीटहिं मारत, को ब्रह्म-अस्त्र धारत ।
नाम कों काहे लगावत कालिमा ॥ २ ॥
जव खेल खेलत, जो पूत बिगारत ।
कवलगि कोप करत तासों अम्मा ॥ ३ ॥
टुक झांकी झांको या दीनताकों ताँको ।
अव करो दासहिं पूरनकामा ॥ ४ ॥

वैदिक दर्शनशास्त्र।



जिस प्रकार बहिर्जगत् सम्बन्धीय उन्नति का प्रथम सोपान शिल्प सम्बन्धीय उन्नति समझी जा सक्ती है, उसी प्रकार अन्तर्जगत् सम्बन्धीय उन्नति का प्रथम सोपान दार्शनिक उन्नति को मान सकते हैं । जिस प्रकार राजसिक-बुद्धि का विकाश शिल्प-उन्नति द्वारा प्रमाणित होता है, उसी प्रकार सात्विक-बुद्धि का विकाश दार्शनिकउन्नति द्वारा समझा जासक्ता है । इस सात्विकबुद्धि-उन्नति रूप तथा अन्तर्जगत् सम्बन्धीय उन्नति रूप दार्शनिक-उन्नति के विषय में प्राचीन भारत सब से अग्रगण्य तथा पूर्णता को प्राप्त हुआ था इस में सन्देह मात्र नहीं! पूज्यपाद महर्षिगण प्रकाशित योगदर्शन, वेदान्तदर्शन आदि ही इस विचार में प्रधान प्रमाण हैं। श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उपदेशित श्रीमद्भगवद्गीता का सगर्भयोगविज्ञान, तथा श्रीभगवान् बुद्धदेव प्रचारित अगर्भयोगविज्ञान ही इस विचार में सर्वो-त्तम प्रमाण हैं । जिस प्रकार के दार्शनिक विचारपथ प्राचीन भारतीय षड्दर्शनों ने प्रचारित किये हैं; जिस प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्त सगर्भ और अगर्भ (ईश्वर-आश्रय से साधन का नाम सगर्भ, और ईश्वर-आश्रय रहित होकर जो साधन किया जाय उस को अगर्भ--साधन कहते हैं) रूपेण निर्णय किये गये हैं; इस प्रकार की विचार-पूर्णता, उस प्रकार का अकाट्य सिद्धान्त, उस प्रकार के अभ्रान्त सारगर्भ और सार्वभौम दार्शनिक-विचार न पूर्वकाल में कभी किसी जाति द्वारा आविष्कृत हुए हैं

और न परकाल में और किसी जाति द्वारा होने की आशा है; इस प्रकार के सार्वभौम दर्शनशास्त्रों के आविष्कार से प्राचीनभारत ही दार्शनिक-उन्नति में आदि-गुरु तथा उच्च-आसन प्राप्त करने योग्य है इसमें सन्देह ही नहीं । दर्शनशास्त्रका साक्षात् सम्बन्ध जिस प्रकार वैदिक-धर्म्म के साथ है उस प्रकार दर्शनशास्त्रसम्मत और कोई भी धर्म्म पृथिवीपर नहीं देखने में आता; साधारण दृष्टि से ही अनुमान हो सकता है कि आर्यधर्म्म के सब सिद्धान्त दार्शनिक-भित्ती पर स्थित हैं परन्तु इस धर्म से अतिरिक्त ईसाई अथवा मुहम्मदीय कोई धर्म्म के साथ भी दार्शनिक प्रमाणों का कोई भी सम्बन्ध दिखाई नहीं पड़ता, ईसाई और मुहम्मदीय आदि धर्म्मनियम केवल विश्वासमूलक हैं परन्तु आर्य्यधर्म्म के सब सिद्धान्त ही दार्शनिक-विचार द्वारा कृतनिश्चय है । आर्यजाति के अतिरिक्त जितनी और जातियां मध्यवर्ती काल में पृथिवी पर वर्तमान थीं उन में से केवल ग्रीकजाति और रोमन जातियों के कुछ कुछ सामान्य दार्शनिक-ग्रन्थ देखने में आते हैं, परन्तु बुद्धिमान् जनगण उनके पाठ करने से ही जान सकेंगे कि उनकी ज्ञानभूमि भारतीय दर्शनशास्त्रों की ज्ञानभूमि के सन्मुख बालकज्ञानवत् ही प्रतीत हुआ करती है । इस के उपरान्त आजकल के नवीन यूरोपीय दर्शनशास्त्रसमूह चाहे कितने ही विस्तार को प्राप्त होगये हों, चाहे यूरोपीय नवीन दार्शनिकगणों ने कितनेही अगणित पुस्तक इस शास्त्र पर लिख डाले हों, परन्तु सूक्ष्म-विचार द्वारा दृष्टि डालने से यही प्रतीत होगा कि उनके वाक्यसमूह भारतीय वृद्धगुरु के संमुख बालक विद्यार्थी-गणों का सरल तथा सारहीन जिज्ञासा की नाइ ही दृष्टि-

गोचर होगी। नवीन यूरोपी दार्शनिक पण्डित मिस्टर स्पेन्सर (Mr. Spencer.), मिस्टर मिल (Mr. Mill) अथवा मोनसो कोमटी (M. Comette) मोनसो, वालटेअर (M. Valtare) आदि महामहोपाध्यायगण यदिच अपनी अपनी बुद्धि द्वारा अन्तर्जगत में थोड़ी दूर अग्रेसर हुए हैं, यदिच उन में से किसी किसी पण्डितवर ने अन्तर्जगत के अनेक गंभीर विषयों पर बहुतसा विचार कर डाला है; तथापि प्रवीण भारत तथा नवीन यूरोप इन उभय देशीय दर्शनशास्त्र के ज्ञातामात्र ही साधारण विचार से समझ सकेंगे कि यूरोपियन अपने दार्शनिक विचार में अभीतक वृद्धगुरु भारत के संमुख बालक विद्यार्थी ही हैं। इस संसार में दो शक्तियां प्रतीत होती हैं, एक जड़ दूसरी चेतन; एक शारीरिक-शक्ति दूसरी जीवनीय-शक्ति; एक प्रकृति-शक्ति दूसरी पुरुष-शक्ति; जिन में से जड़-शक्ति स्थूल और चेतन-शक्ति अति सूक्ष्म अतीन्द्रिय है; जड़ शक्ति का राज्य जगत-सृष्टिविस्तार में और चेतनभाव का राज्य उस से परे है; जड़शक्ति साधारणरूपेण अनुभव योग्य है किन्तु चेतनभाव जड़राज्य की शेष सीमा में पहुंचने पर केवल मात्र अनुमान करने ही योग्य है। आजदिन तक यूरोप में जितने दर्शनशास्त्र प्रकाशित हुए हैं वे सब अभीतक जड़-जगतमेंही भ्रमण कर रहे हैं; यदिच उन्हों ने जड़–जगत में बहुत कुछ अन्वेषण कर लिया है तत्रच चैतन्यजगत को वे दूर से भी नहीं निरीक्षण कर सके हैं; यदिच यूरोपीय विद्वानगणों ने जड़राज्य की कुछ कुछ छानबीन की है तथापि उन को अभीतक यह भी ज्ञान नहीं है कि इस जड़भाव से अतिरिक्त और कोई चेतनभाव है वा नहीं ? जब उन की यह दशा है, जब देखते हैं कि वे प्रकृति राज्य

में ही भ्रमण कर रहे हैं और प्रकृति को ही सब कुछ करके मान रक्खा है, जब देखते हैं कि पुरुष का सामान्य ज्ञानमात्र भी उन को अभीतक नहीं मिला है, जब देखते हैं कि जीवभाव, पुरुषभाव, ईश्वरभाव, ब्रह्मभाव आदि चैतन्य जगत् सम्बन्धीय कोई भाव का भी यथार्थरूप उनके अनुमान में नहीं आया, और जब देखते हैं कि अभीतक यूरोपीय दार्शनिकगण जड़ःजगत् के मायाराज्य में ही अपने आपे को भूल रहे हैं; तब कैसे नहीं विश्वास करेंगे कि वे दार्शनिक-ज्ञान में अभी बालक ही हैं। अन्तर्जगत् सम्बन्धीय विचाररूप महासागर के दो कूल हैं; एक ओर का कूल तो यह विस्तृत संसार है और दूसरी ओर का कूल ब्रह्मसद्भावरूप निर्वाणपद है; इस विचारभूमि के एक ओर संसार रूप इन्द्रियगम्य विषय और दूसरी ओर अतीन्द्रिय ब्रह्मपद है। यूरोपीय दार्शनिकगण यदिच प्रथम कूल की ओर से आगे बढ़गये हैं, परन्तु वे इस विस्तृत महाज्ञानसमुद्र में थोड़ी दूर अग्रेसर होते ही निराश हो पुनः पीछे की ओर देखने लगे हैं; और अपनी असम्पूर्ण ज्ञानशक्ति के कारण यही समझने लगे हैं कि इस महासमुद्र के चारों ओर पूर्व्वभूमि के अनुसार दृश्य विषय संसार ही है; उन को केवल एक कूल का ही संवाद विदित होने के कारण, वे केवल इस महासागर के बीच दिग्भ्रमवश हो रहे हैं, इस कारण उन को यही प्रतीत होता है कि जो कुछ है सो जड़-प्रकृति ही है। इस प्रबन्ध लिखित सिद्धान्तों पर जिन को कुछ सन्देह है वे अपने दर्शनशास्त्र तथा यूरोपीय-दर्शनशास्त्रों को मनोनिवेश पूर्वक अध्ययन करने से ही जान सकेंगे कि अपने आर्य्यदर्शनशास्त्रों के सन्मुख यूरोपीय-दर्शन अभीतक "दर्शन" नाम धारण करने योग्यही नहीं हुए

हैं। इस प्रबन्ध में यूरोपीय नवीन पक्ष तथा भारतीय प्रवीन पक्ष के जितने आचार्य्यगणों का नाम आया है अथवा जितने ग्रन्थों का वर्णन किया गया है उन उभय पक्षोंके ग्रन्थसमूहों को पाठ करने से बुद्धिमान् मात्र ही इस प्रबन्धोक्त सपक्षपर दृढ़ता को प्राप्त हो-सकेंगे। भारतीय दर्शनशास्त्रों की श्रेष्ठता के विषयमें केवल अपना ही मत नहीं है किन्तु संस्कृतज्ञ सकल यूरोपीय विद्वान्गणों ने ही एकवाक्य होकर अपने आर्य्यदर्शन-शास्त्रों की बहुत ही प्रशंसा की है, उन्हों ने एकवाक्य होकर यही कहा है; अन्यदेशवासी तथा अन्यधर्माव-लम्बी होने पर भी उन सबों ने यही सम्मति प्रकाश की है कि "पृथिवी पर प्राचीन भारतवासी ही दार्शनिकजाति (Nation of philosophers) है, यदि अभीतक कोई उन्नत तथा पूर्ण दर्शनशास्त्र जगत में प्रकाशित हुआ है तो वह भार-तीय 'दर्शनशास्त्र' ही है।" पण्डिताग्रगण्य विलसन (Wilson), भेलनटाइन (Valantine), विलियम जोन्स (William Jones) सेन्ट हिलरी (Saint Hilaire), बर्नफ़ (Burnouf), लेसीन (Lassen), डसीन (Dassien), मोक्षमूलर (Max Muller), आलकट (Olcott), जज (Judge), सिनट (Seneth), हीगल (Hegel), राथ (Roth), मेवर (Muir), कोलब्रुक (Colebrooke), होगसन (Hodgson), कमोडीकोरस (Csmodekoros), हारडी (Hordy) एवं धीमती महाप-ण्डिता श्रीमती ब्लेवट्स्की (Blavatskey) और अनीबिसेन्ट (Annebisent) आदि यूरोपीय श्रेष्ठ आचार्य्यगणके अन्यमता-वलम्बी होनेपर भी सबों ने एकवाक्य होकर प्राचीन भार-तीय दार्शनिकबुद्धि की अनन्त महिमा गाई है; सबों ने अगत्या यही स्वीकार किया है कि प्राचीन भारत दार्शनिक विचार में जितनी दूर अग्रेसर हुआ था उतनीदूर अभीतक

यूरोप अग्रेसर हो नहीं सका है। प्राचीन भारत के और और नाना उन्नति सम्बन्ध में यद्दिच यूरोपीय ग्रन्थों में कम प्रमाण मिलते हैं; प्राचीन भारत के वैज्ञानिक तथा धर्म्म आदि उन्नति विषयों को यद्दिच यूरोपीय विद्वान् गणों में से कम लोग ही समझ सके हैं; तथापि भारतीय दार्शनिक-उन्नति के विषय में तो अगणित यूरोपीय विद्वान्-गण सम्मतिदान कर चुके हैं; "भारतीय दर्शनशास्त्र बहुत ही उन्नत हैं," "भारतवासी दार्शनिक जाति है," ऐसे प्रमाण-युक्त वाक्य सब भारत-इतिहासज्ञ यूरोपवासी ही एक-वाक्य होकर कहा करते हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र उन्नत हैं इस में तो सन्देह ही नहीं रहा क्योंकि जहां सर्व्वसम्मति है वहां सन्देह रह नहीं सकता, किन्तु भारतीयदर्शनसमूहों में कहीं कहीं विचारभेद देखने से कोई कोई विद्वान्गण दर्शनोक्त सत्यता पर सन्देह करने लगते हैं; वे कहते हैं कि जब दर्शनों में नाना मत भेद हैं तो मतों की एकता कैसे हो सकती है? और जिज्ञासुगणोंका कल्याण कैसे हो-सकताहै ? परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर इस प्रकार के सन्देह उठ ही नहीं सकते। भारतीय नानादर्शनशास्त्रों में जो मतभेद सा प्रतीत होता है वह वास्तव में मत-भेद नहीं है किन्तु अधिकारभेद के अनुसार पथ-भेद मात्र है; जब देखते हैं कि सब शास्त्र ही अग्रसर होते हुए शेष में एक मात्र लक्षस्थल पर ही पहुंच जाते हैं, जब देखते हैं कि सब का वर्त्ताव चाहे कैसा ही हो किन्तु अवलम्बन एक ही है, तब कैसे स्वीकार कर सकते हैं कि अपने आर्य्य-शास्त्रों में वास्तवमें मत भेद है। यदिच षड्दर्शन में योगदर्शन अष्टाङ्गयोगविचार करता है, सांख्यदर्शन प्रकृति-पुरुष-पथका विचार करता है, वैशेषिकऔर न्यायदर्शन परमाणु-

विचार द्वारा पदार्थ निर्णय करता है, मीमांसादर्शन कर्म्म की विचित्रता तथा कर्म्मप्रभाव वर्णन में प्रवृत्त है, और वेदान्तदर्शन ज्ञानविस्तार द्वारा जीव ब्रह्म की एकता करता हुआ अद्वैतभाव की सिद्धि कर रहा है; तत्रच सूक्ष्म विचार द्वारा यही सिद्धान्त होगा कि सब ही एकमात्र वेदप्रतिपाद्य मुक्तिपद के ज्ञानविस्तार में ही तत्पर हैं.

सब साधनों का प्रधान अवलम्बन एवं चरमसीमारूपी मुक्तिपद के विषय में कोई भी मतभेद नहीं पाया जाता; मुक्ति के अवलम्बन रूपी ब्रह्मपद व पुरुषभाव के विषय में सब दर्शनकारही एकमत होजाते हैं। प्राचीन आर्य्यगणोंने यही सिद्धान्त किया है कि परमानन्द एवं मुक्तअवस्था रूपी कैवल्यपद ही बुद्धिमान् जीवगणों के पुरुषार्थ का लक्ष होना उचित है; चाहे मनुष्यगण कैसी ही प्रकृति के हों, चाहे वे कैसेही अधिकारपथमें चलनेवाले हों परन्तु मुक्तिपद पर लक्ष रखकर ज्ञानी मनुष्यमात्रको ही पुरुषार्थ करना उचित है। वही मुक्तिरूपी कैवल्यपदही यथार्थ में परमानन्द पद है; वही पद सबके लिये बांछनीय है। अनुसंधान करने से यही पाया जायगा कि ब्रह्मभावरूप मुक्तिपद के विचार करने में किसी दर्शन में भी मतभेद नहीं है; परस्परमें जो कुछ मतभेद सा प्रतीत होताहै वह केवल पुरुषार्थ काही भेद है। प्रकृति और प्रवृत्ति विभिन्नताके कारण जब अधिकारियोंमें शक्ति व ज्ञानका भेद होना सम्भव है तो साधनरूपी पूर्वावस्थामें मुमुक्षुगणों के अर्थ पुरुषार्थ--भेद होना भी अवश्य सम्भावी है। इसी पुरुषार्थविभिन्नता के कारण वैदिक दर्शनशास्त्रों में मतभेद सा प्रतीत होता है; परन्तु वास्तव में उनमें कुछभी मतभेद नहीं है। प्राचीन भाष्यकारोंने इस प्रकार के मतकी साम्यता करने की कोई

आवश्यकता न समझनेसे उस समय इन्होंने अपने भाष्यों में इसका कुछभी वर्णन नहीं किया है । परंतु वर्तमान देश काल पात्रके विचारसे "निगमागममण्डली"के आचार्य्य द्वारा जो सातोंदर्शनोंपर भाष्य प्रणयन हो रहे हैं उनके पाठ करने से ही जिज्ञासुगणोंके सब सन्देह दूर होजायँगे इसमें सन्देह मात्र नहीं ।

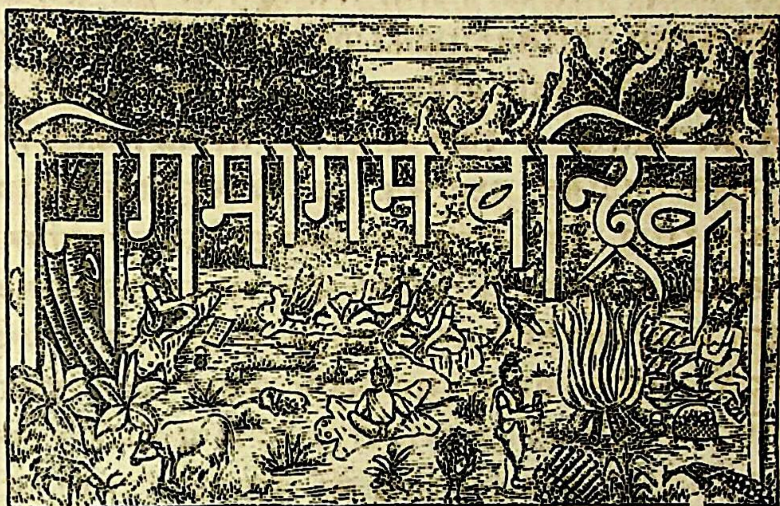
किस अभ्रान्त नियम पर वैदिक दर्शनशास्त्रसमूह प्रकाशित किये गये हैं उसका विचार करनेसे ही जिज्ञासुगणोंको उनका कुछ स्वरूपज्ञान होसकेगा । वैदिकदर्शनों को सात भागमें विभक्त कर सक्तेहैं. यथा न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन, सांख्यदर्शन, योगदर्शन, मीमांसादर्शन, वेदान्तदर्शन और भक्तिदर्शन । यदिच षड्दर्शननाम प्रसिद्ध है और इन्हीं छः दर्शनोंके बहुत ग्रन्थ आजकाल मिलतेभी हैं परन्तु इन छओंसे अतीत आन्वीक्षिकी विद्याके नामसे सप्तमदार्शनिकमतके भी प्राचीन कालमें बहुतसे ग्रंथ थे; कालप्रभाव से अब उनके ग्रन्थ प्रायः मिलतेही नहीं । भगवद्गतद्गतभावरूप "पराभक्ति"को ही आन्वीक्षिकी विद्या कहसक्ते हैं; इसकारण भक्तिशास्त्र प्रवर्त्तक भक्तिदर्शन को सप्तम दर्शन करके मान सक्ते हैं । प्रकृति प्रायः सप्तधा हुआ करती है; इसीकारण परिदृश्यमान् संसारमें पदार्थों के सप्त विभाग देखने में आते हैं; यथा सप्तरङ्ग, सप्तधातु, सप्तग्रह (दोअसम्पूर्ण), सप्तनदी, सप्तभुवन, सप्तसमुद्र, सप्तस्वर, आदि पुरुष सप्तऋषि, सप्तद्वीप इत्यादि; और इसी प्राकृतिक नियमके अनुसार वैदिक दर्शनशास्त्रोंमें ज्ञान की भी सप्तभूमिका मानी गई हैं।इन्हीं सप्तज्ञानभूमियोंके विचार से सातप्रकार के दर्शनशास्त्र होना युक्तियुक्त है । अभ्रान्त सत्य ऐश्वरीय

वैदिक ज्ञानके प्रकाश करने के अर्थ "दर्शन" दर्शन (नेत्र) रूप हैं; यह सप्तदर्शन सब ही अभ्रान्त वैदिकलक्षको प्रकाशित करते हैं; परन्तु सातों ज्ञानअधिकार में ज्ञानभूमि के तारतम्य से सातों में विचार विभिन्नता पाई जाती है। पुनः इन सातों दर्शनोंको स्थूल सूक्ष्म और कारण रूप से तीनभाग में विभक्तकर सक्ते हैं; यथा स्थूलविज्ञान प्रकाशक न्याय और वैशेषिक पदार्थवाददर्शन, सूक्ष्मभाव प्रकाशक सांख्य और योग सांख्यप्रवचनदर्शन, और कारण-विज्ञान प्रचारक कर्म्ममीमांसा, ब्रह्ममीमांसा और भक्तिमीमांसा नामक तीन मीमांसा दर्शन हैं। इन विभागोंके विज्ञान पर मन लगाने से ही जानाजासक्ता है कि किस अपूर्व ज्ञानभित्ती पर स्थित रखकर वैदिक दर्शन समूह प्रकाशित किये गये हैं। मुमुक्षुगणोंमें प्राकृतिक नियमके अनुसार सप्तज्ञानभूमिका-भेद रहने के कारण सात प्रकार के वैदिक-दर्शनमतही प्रकाशित किये गये हैं।

आजकल दर्शनशास्त्रोंका अभाव होजाने से एवं संस्कृतविद्या के साथ दार्शनिकशिक्षाकी प्रणाली रुक जाने से भारतवासीगण इसप्रकार के लक्षभ्रष्ट से प्रतीत होते हैं। सातों दर्शनमार्गों की पूर्ण शिक्षा के अभाव से ही नाना मतमतान्तरों की सृष्टि होकर नाना साम्प्रदायिक झगड़ों से आजदिन भारत "इतः नष्टःततः भ्रष्टः" हो रहा है; विना सातों दर्शनों की शिक्षा प्राप्त किये यथार्थ में वेदके तात्पर्य्य को जिज्ञासुगण कदापि नहीं समझ सक्ते हैं। इसकारण सप्तदर्शनविज्ञान के प्रचारकी भारतवर्षमें बहुतही आवश्यकता है इसमें सन्देह नहीं। विना दर्शन-विज्ञान के विस्तार के भारतवर्षके पूर्ण कल्याण होने की कोईभी आशा नहीं; एवं यदि इन दर्शन-विज्ञानोंका

यथार्थ आशय गुणग्राही यूरोपीय विद्वान्गणोंको विदित होजाय तो निस्सन्देह उनके भ्रमपूर्ण लक्ष के निराकरण के साथही साथ भारतवर्षसे उनकी सहृदयता स्थापन हो-सक्ती है इसमें सन्देह मात्रनहीं । इन दर्शनविज्ञानों की सहायता से वे अपने अन्तर्लक्षको स्थिर करसकेंगे;एवं साथही साथ भारतवर्ष एवं प्राचीन आर्य्यजातिका अपूर्वगौरव उनके चित्तपर खचित होजायगा । इसकारण केवलमात्र दार्शनिकविज्ञानके विस्तारसे ही भारतवासियोंका साक्षात एवं परोक्ष सम्बन्धसे कल्याण होसकेगा ॥





शिशिरऋतुः—कलाब्दाः ४९९८.

भाग २.	माघ एवं फाल्गुनमास.	संख्या ६.

ज्योतिष शास्त्र उन्नति।

गणित-ज्योतिष और फलित-ज्योतिष इन दोंनों शास्त्रों का आविष्कार आदिकाल में इस भारतभूमि से ही हुआ है; और केवल विद्याओं का आविष्कार ही नहीं हुआ था किन्तु इन के प्रत्येक विभाग इतनी उन्नति को पहुंचे थे कि जिन सब विभागों को अभीतक पश्चिमी वैज्ञानिकगण समझ नहीं सके हैं। यदिच उन्हों ने आज़ कल यन्त्रों की सहायता से गणितज्योतिष की कुछ उन्नति की है तथापि

फलित की सूक्ष्मता को वे अभी तक पहुँच ही नहीं सके हैं। प्राचीन कालमें ज्योतिषशास्त्रकी पूर्ण उन्नति नहीं हुईथी ऐसा कोई कोई एकदेशदर्शी भावुकगण प्रमाण किया करते हैं, परन्तु आर्य्यशास्त्र न देखने से ही वे ऐसा कहा करते हैं। ग्रह, नक्षत्र, राशिचक्र, नक्षत्रचक्र, अंश, विषुवरेखा, गोलकार्ध, उदीचीन-राशि आदि राशिभेद, क्रान्ति, केन्द्रव्यासनिरूपण, सुमेरु, छायापथ, ग्रह, उपग्रह, कक्ष, धूमकेतु, उल्कापिंड, निर्घात, मध्याकर्षणशक्ति, सूर्य्य, महासूर्य्य आदिभेद, पृथिवी आदि की आकृति, ग्रहणनिर्णय आदि सकल गंभीर विषयों का सिद्धान्त जब प्राचीन आर्य्यों के ग्रन्थों में देखते हैं तब कैसे कहेंगे कि उन्होंने इस शास्त्र की पूर्ण उन्नति नहीं की थी। विष्णुपुराण में लिखा है कि "स्थालीस्थमग्निसंयोगादुद्रेकि सलिलं यथा। तथेन्दुवृद्धौ सलिलमम्भोधौ मुनिसत्तमाः। न न्यूना नातिरिक्ताश्च वर्द्धन्त्यापोह्रसन्तिच। उदयास्तमनेष्विन्दोः पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः। दशोत्तराणि पञ्चैव अङ्गुलानां शतानिवै। अपां वृद्धि क्षयौ दृष्टौ सामुद्रीणां महामुने"। अर्थात् ज्वारभाटा से यथार्थ में समुद्रका जल ह्रास और वृद्धि को प्राप्त नहीं होता है, परन्तु स्थाली में जल रखकर वह अग्निपर रखने से जैसा अग्नि-उत्ताप द्वारा जल में उफान आने से वह जल वृद्धि को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही शुक्ल और कृष्ण पक्ष की चन्द्रकला द्वारा आकृष्ट होकर समुद्रजल ह्रास वृद्धि को प्राप्त हुआ करता है। आर्य्यग्रन्थों में ऐसे प्रमाण देखने से किस को विश्वास न होगा कि आर्य्यगणों को ग्रह आकर्षण शक्ति-और ज्वारभाटा का कारण ज्ञात न था। वार और तिथि आदि को आर्य्य महर्षिगणों ने ही प्रथम आविष्कार करके समय की शृङ्खला की थी; वर्षभर में जौनसे दिन दिवारात्रि

समान होता है वह यूरोपीय पण्डित टोलेमी (P. tolmy.) (जिस को यूरोपवाले इस नियम के आविष्कर्त्ता मानते हैं) के जन्म लेने से बहुत काल पूर्व ही प्राचीन आर्य्य आचार्य्यगण द्वारा निरूपित हो चुकाथा। सूर्य्यसिद्धान्त ग्रन्थ में लेख है कि, "सर्वतः पर्वताराामग्रामचैत्यचयैश्चितः। कदम्बः केशरग्रन्थिकेशरप्रसवैरिव" ॥ अर्थात् कदम्ब जिस प्रकार केशरसमूह द्वारा वेष्टित होता है उसी प्रकार पृथिवी भी ग्राममें वृक्ष पर्वत आदि द्वारा वेष्टित है। नक्षत्र कल्प में लेख है कि, "कपित्थफलवद्विश्वं दक्षिणोत्तरयोः समं"। अर्थात् कपित्थ फलकी नाईं पृथिवी गोलाकार है। परन्तु केवल उत्तर और दक्षिण में कुछ समान अर्थात् दबी हुई है। जब पश्चिमी विद्वान्गण पृथिवी को नारंगी के साथ उपमा देते हैं; तब आर्य्यगणों को कदम्ब और कपित्थ के साथ उस की उपमा देने से क्या विद्वान्गण नहीं समझ सकेंगे कि प्राचीन आर्य्यगण पृथिवी के स्वरूप को पश्चिमी वैज्ञानिक गणों से पूर्व ही भलीभांति जानते थे। आजकल विद्यार्थियों की शिक्षाके अर्थ गोलक (Globe) प्रस्तुत किया जाता है; परन्तु जब प्राचीन आर्य्यग्रन्थों में देखते हैं कि वे भी शिष्यों को दारुमय खगोल और भूगोल रचना द्वारा शिक्षा दिया करते थे, तब कौन बुद्धिमान् नहीं विश्वास करेंगे कि वे भी इस नवीन रीति को भलीभांति जानते थे। आजकल की शिक्षा में प्रधान दोष यह है कि भारतवासीगण पूर्ण शिक्षाको प्राप्त नहीं होते, चाहे पश्चिमी अंग्रेजी भाषा, चाहे संस्कृत-विद्या किसी में परिश्रम करते हों परन्तु पूर्ण परिश्रम नहीं करते; द्वितीयतः अपने वर्त्तमान भ्रमों के दूर करने के अर्थ दोनों शास्त्रों का भलीभांति संग्रह करके तत्पश्चात् दोनों के गुणों को परस्पर विचारद्वारा सत्य का अन्वेषण करें तभी

सत्य का अनुसंधान कर सकेंगे; नहीं तो एक विद्या को ही असम्पूर्ण जान कर सत्य अनुसन्धान करना विड़ंबनामात्र होगा इस में सन्देह नहीं। आर्य्यभट्टजी ने लिखा है कि, " चला पृथ्वी स्थिरा भाति" अर्थात् पृथिवी चलती है परन्तु ठहरी हुई अनुभव होती है; पुनः आर्षग्रन्थों में लेख है कि, "भूपंजरः स्थिरोभूरेवावृत्यावृत्य प्रातिदिवसिकौ। उदयास्तमयौ सम्पादयति नक्षत्रग्रहाणाम्" ॥अर्थात् नक्षत्र-मंडल, राशीचक्र स्थिर होरहे हैं, परन्तु पृथिवी वारंवार घूमती हुई ग्रह नक्षत्रों का दैनिक उदय अस्त सम्पादन किया करती है; इन लेखों को देखने से कौन नहीं विश्वास करेगा कि प्राचीन आर्य्यगण पृथिवी की गति को नहीं जानते थे। जब आचार्य्यों के ग्रन्थों में देखते हैं कि "भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति" अर्थात् पृथिवी शून्य में ही स्थित है; पुनः जब भास्कराचार्य्य को कहते हुए देखते हैं कि, " नान्याधारं स्वशक्त्या वियति च नियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे तिष्ठद् विश्वंच शश्वत् सदनुजमनुजादित्यदैत्यं समंतात्॥" अर्थात् पृथिवी विना आधार के ही अपनी शक्ति द्वारा आकाश-मण्डल में स्थित है, और उसके पृष्ठ पर चारों ओर देव दानव मानव आदि निवास कर रहे हैं; तब कैसे विश्वास नहीं करेंगे कि वे पृथिवी की स्थिति को भली भांति नहीं जानते थे। जब ब्रह्मपुराण में देखते हैं कि" पर्वकालेतु सम्प्राप्ते चन्द्राऽर्कौछादयिष्यसि । भूमिच्छायागतश्चन्द्रश्चन्द्रगोऽर्के कदाचन"॥ अर्थात् पूर्णिमा आदि पर्व्व दिन में तुम चन्द्र सूर्य्य को आच्छादन करोगे; पुनः ज्योतिष आचार्य्यों के ग्रन्थों में देखते हैं कि, " छादको भास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भवेत् । भूच्छायां प्रमुखश्चन्द्रोविशत्यार्थो भवेदसौ"॥ अर्थात् मेघकी नाई चन्द्र सूर्य्य के अधस्थ होकर सूर्य्य को आच्छादित करता है, और चन्द्र

भूच्छाया में प्रवेश करता है; तब कौन बुद्धिमान्गण नहीं जान सकते हैं कि प्राचीन भारतवासीगण ग्रहण-विज्ञान को भलीभांति नहीं जानते थे । इस प्रकार से ज्योतिषशास्त्र की उन्नति के विषय में जितना विचार करेंगे उतना ही सिद्धान्त दृढ़ होता जायगा कि इस गंभीर विज्ञान-शास्त्र में प्राचीन भारत ने बहुत ही उन्नति की थी । विना गणित-ज्योतिष के फलित-ज्योतिष कार्य्यकारी नहीं होता, इस कारण भारत का फलित-शास्त्र ही गणित-शास्त्र की उन्नति का प्रमाण है । आजकल के यूरोपीय सम्वादों का पाठ करने से बुद्धिमान्मात्र ही जान सकेंगे कि आज दिन यूरोपवासी किस प्रकार से मेटीओरोलोजी (Meteorology.) विद्या पर से अपनी दृष्टि हटा कर फलित ज्योतिष की सत्यता की ओर दृढ़ करते जाते हैं । आज दिन यूरोप का यह फलित-ज्योतिष का पक्षपात ही हमारे इस गणित एवं फलित-ज्योतिष विषयक सिद्धान्त को पूर्णरूपेण दृढ़ कररहा है ।

आजदिन यूरोप जिस प्रकार से नाना पदार्थविद्याओं की उन्नति कर रहा है उस प्रकार की लौकिक रीति पर प्राचीन भारत ने अपनी विद्याओं की उन्नति नहीं की थी । पूज्यपाद महर्षिगण अपनी अभ्रान्त योगयुक्त समाधि-बुद्धिद्वारा ही प्राचीनकाल में नाना शास्त्रों का आविष्कार किया करते थे; जिस का पूर्णरूपेण प्रमाण योगदर्शन के पाठ करने से ही होसक्ता है । जो विषय एक बार आविष्कार हो जाय उस की क्रमोन्नति लौकिकबुद्धि द्वारा हो सक्ती है; परन्तु ज्योतिष-विद्या की नाईं गंभीर विज्ञान का प्रथम आविष्कार करना विना योगयुक्त-समाधि-बुद्धि के असम्भवही है । विशेषतः ज्योतिषविद्या के

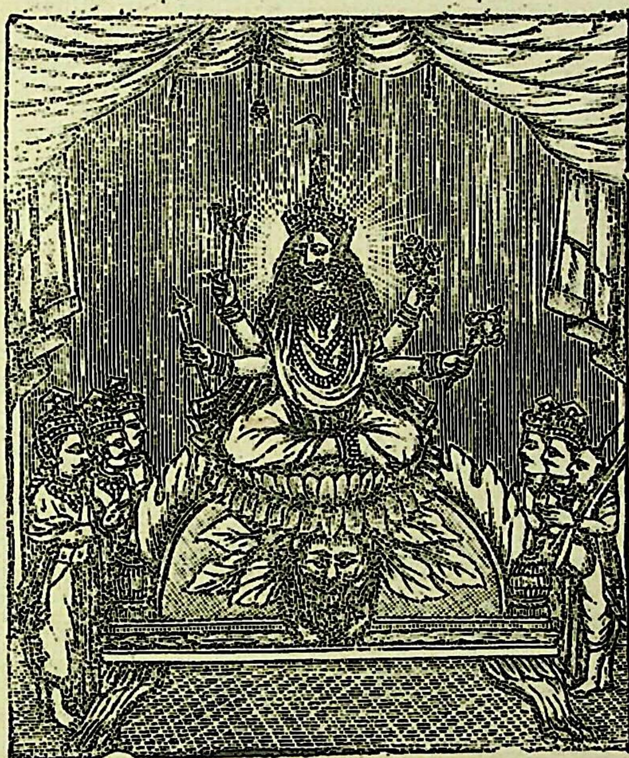
फलित भाग की अपूर्वता विना आध्यात्मिक लक्ष के कदापि आविष्कृत नहीं होसक्ती । परन्तु शोक का विषय है कि आर्य्यगणों का यह ज्योतिषशास्त्र अब श्रीहीन होगया है; इसमें सिद्धि की पूर्णता का अभाव होजाने के कारण मनुष्यगणों की रुचि दिन प्रतिदिन इस विद्या से हटती जाती है । सिद्धि-अभाव के विषयमें इस अभ्रान्त विद्याका कोई भी दोष नहीं है, किन्तु अपनी असावधानता का ही दोष है। त्रिगुणात्मक प्रकृति सदा परिवर्त्तनशील होने के कारण इस प्राकृतिक ब्रह्माण्ड के यावन्मात्र पदार्थ सब ही परिवर्तनशील हैं । उसी अभ्रान्त प्राकृतिक नियम के अनुसार ग्रह नक्षत्रों की गति में भी परिवर्तन होना युक्तियुक्त है। यदिच दूराधिक्य के कारण इन ग्रह नक्षत्रों की गति का परिवर्तन अपने इस पृथिवी लोक पर अतिसूक्ष्मरूप से ही अनुमानयोग्य है, तथापि कालान्तर में उनकी गति में परिवर्तन हुआ करता है इसमें सन्देह मात्र नहीं। फलतः कालान्तर में जो "अयनांश" में भेद पड़ जाया करता है इसका प्रमाण ज्योतिष शास्त्र में ही वर्णित है। एवं इसीकारण से समय समय पर उन गतियों का उद्धार करना भी उचित है। प्राचीन काल में विद्याविस्तार की पूर्णता और स्वदेशीय राजागणों की सहायता रहने के कारण समय समय पर आवश्यकता के अनुसार यह संशोधन कार्य्य हुआ करता था। परन्तु अब नाना कारणों से बहुत काल बीत चुका वह संशोधन कार्य्य नहीं हुआ। आर्य्यगणों में विद्या का अभाव होजाने से न तो इस सत्-विद्या के आचार्य्यगणों की दृष्टि ही इस अत्यावश्यकीय कार्य्य पर रही और न नरपतिगणों ने ही अपने कर्त्तव्य

पर ध्यान दिया; इसकारण काल की गति के साथ नक्षत्रों की गति में फेर पड़ता रहा और उससे गणित-ज्योतिष में फेर पड़के फलित-ज्योतिष की सिद्धि में असम्पूर्णता आगई। अब जबतक इस संशोधन कार्य्य द्वारा ज्योतिष–शास्त्र का उद्धार न कियाजायगा तबतक भारत के पूर्ण कल्याण की आशा नहीं; क्योंकि धर्म्मप्राण भारतवासियों के यावन्मात्र धर्म्मकार्य्य ज्योतिषशास्त्र की सहायता से ही किये जाते हैं; उस ज्योतिषशास्त्र में बल पड़जाने से धर्म्मकार्य्यों में भी बल पड़ने लगा; तो विना धर्म्म की पूर्णता के जीव की किस प्रकार से उन्नति होसक्ती है। किन्तु यह ज्योतिषशास्त्र-उद्ध. कार्य्य इतना हितकारी व परम आवश्यकीय होने परभी भारतवासी गणों की दृष्टि अभीतक इस पर नहीं पड़ी। अभीतक रत्नगर्भा भारतभूमि में असंख्य राजा महाराजा व सद्गृहस्थगण असंख्य धनदान कार्य्य में व्यय किया करते हैं; इस उत्तम देशोन्नतिकारी कार्य्य में कुछ अधिक धनकी आवश्यकता नहीं है; यदि धनाढ्य आर्य्यगण इच्छा करें तो बहुत थोड़े ही यत्न से इस शास्त्र की उन्नति व रक्षा होसक्ती है। अपिच इस शास्त्र के उद्धार से धर्म्म का उद्धार और धर्म्म के उद्धार से मातृभूमि भारतवर्ष का पूर्ण कल्याण हो सक्ता है।

ज्योतिषशास्त्र का सुधार दो प्रकार से हुआ करता है; एक तो समाधि बुद्धि द्वारा, और दूसरे यंत्र आदि की सहायता से लौकिक परीक्षा द्वारा। सो प्रथम प्रकार के पुरुषार्थ का तो अब समय नहीं है। अब केवल यंत्रों की सहायता से ही इस अत्यावश्यकीय शास्त्र का पुनरुद्धार होसक्ता है। उन्नति करे कराये ज्योतिषशास्त्र के उपयो-

गी यंत्र यूरोप में मिलते ही हैं। यदि ऐसा एक यंत्रालय (Observatory) खोला जाय कि जिस में प्राचीन शैली के यंत्र भी रहैं और नवीन शैली के यूरोपीय यंत्रों का भी पूर्ण संग्रह रहै; एवं उसी प्रकार से यंत्रालय में भारतवर्ष के योग्य ज्योतिषी गण भी एकत्रित किये जांय और साथ ही साथ दो एक यूरोपीय ज्योतिषियों का भी संग्रह यंत्रालय में सहायक रूपेण रक्खा जाय, तो शीघ्र ही इस कार्य्य में सफलता होसक्ती है। "निगमागममंडली" के आचार्य्य द्वारा इस अति उत्तम भारतहितकारी कार्य्य के अर्थ सनातनधर्म्मावलम्बी राजा महाराजागणों को कुछ उपदेश हुआ भी है। और दो चार स्वदेशहितैषी नरपतिगणों ने इस धर्म्मकार्य्य की आवश्यकता पर ध्यान देकर सहायता देने को स्वीकार भी किया है। यह कार्य्य बृहत है; इसकारण यदि च अति धनाढ्य नरपतिगणों में से कोई चाहें तो अकेलेही इस धर्म्मकार्य्य का उद्धार करसक्ते हैं; परन्तु प्रथमतः छोटे नरपतिगणों में से केवल एक दो उत्साही पुरुष के द्वारा ही न तो इस बृहत कार्य्य की सफलता हो सक्ती है, और न अभीतक बड़े धनाढ्य नरपति गणों में से किसी को ऐसा उत्साही, स्वदेशहितैषी और धर्म्मप्रेमी ही पाया गया है, कि जो उत्साह के साथ इस धर्म्म-पुरुषार्थ के करने में अग्रसर होवे; इसकारण यत्न करने पर भी निगमागममंडली अभी तक इस पुरुषार्थ के प्रारम्भ करने में सफलकामा नहीं हो सकी है। श्री भगवान से यही प्रार्थना है कि वे धनाढ्य पुरुषों में सत्वगुण की वृद्धि कराके उनको यथार्थ धार्म्मिक और स्वदेशप्रेमी करें, तभी मंडली अपने विचारों को कार्य्य में परिणत करके सफलकामा हो सकेगी। किमधिकमिति।

॥ ॐ श्रीभुवनेश्वर्यैनमः ।



रागिनी सोरठी, तालमध्यमान ।

हृद्कमल हिण्डोलपर झूलत भुवन मोहिनी ॥ १ ॥
इड़ा और पिङ्गला, मिलि बन्यो वह झूला ॥
सुखमना पकड़लेत झकोर (मेरो) त्रिगुनधारिनी ॥२॥
माता धार्‍यो रक्तभेख, करत जात हास विसेख ॥
ताहि मेरो मन पवन हिलावत है दिवस रजनी ॥ ३ ॥
आवागमन जायमिटि, भव फन्द जाय कटि ॥
जो देखत हिण्डोलपर राजत ब्रह्मरूपिनी ॥ ४ ॥

शुभ सम्वाद ।

"निगमागममण्डली" के "शास्त्रप्रचार-विभाग" के आश्रित "निगमागम-सीरीज" के क्रमसे जिन २ धर्म्म-ग्रन्थों का प्रकाश हुआ है उनकी नामावली संक्षेप परिचय के साथ निम्न में प्रकाशित कीजाती है। आशा है कि इन धर्म्म-ग्रन्थों से जगत् का बहुत कुछ उपकार होगा।

१ नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत ।

इस ग्रन्थ में पृथिवी मंडल के अन्यान्य देशों से भारतवर्षकी प्राकृतिक श्रेष्ठता अकाट्ययुक्तियोंसे सिद्ध कीगईहै; तथा दार्शनिक व वैज्ञानिक प्रमाण द्वारा भारत को ही धर्म--भूमि करके निरूपित कियागया है। और नवीन शिक्षा-प्राप्त लोगोंकी दृष्टिमें जो भारतकी लघुता समा गई है उसका समाधान उन्हींके पश्चिमी-गुरुगणों अर्थात् पश्चिमी विद्वानोंके विचार--प्रमाण द्वारा भलीभांति किया है। इस पुस्तक के विषय में अधिक लिखना व्यर्थहै। इसप्रकारका भारत-महिमा प्रचारकारी ग्रन्थ आज तक किसी भाषा में प्रकाशित नहीं हुआ था। मूल्य १) रुपया।

२ भक्तिदर्शन । (निगमागमी भाष्य सहित)

महर्षि शाण्डिल्यकृतभक्ति सूत्रों पर अनिर्वचनीय प्रशंसा योग्य सरल व सारगर्भित अमूल्य भाषा-भाष्य हुआ है। पुस्तक के प्रारम्भ में एक अति उत्तम व विस्तृत भक्ति-प्रतिपादक भूमिका दीगई है। ऐसा अलभ्य भाष्य पहले कभी किसी भाषा में प्रकाशित नहीं हुआ था। बिना पाठ करे इस ग्रन्थ की महिमा का ज्ञान होना असम्भव है। बड़े २ विद्वानों ने इस अपूर्व ग्रन्थरत्न की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से गान की है। यदि मनुष्य-जन्म सफल करने की इच्छा हो तो मुमुक्षुगण अवश्य ही इस अमृत का पान करें, न्योछावर केवल १) रुपया।

३ गुरुगीता—इस में तंत्रशास्त्रोक्त गुरुगीता को अनुवाद व भावार्थ सहित प्रकाशित किया गया है, इसके अतिरिक्त गुरुपूजा पद्धति, गुरुगीता माहात्म्य और भगवान् शंकराचार्य कृत मणिरत्नमाला भाषा अनुवाद सहित प्रकाशित किये गये हैं। पाठ उपयोगी मूल श्लोकोंको बड़े टाईपमें छापा गयाहै। ग्रन्थके प्रारम्भ में एक अपूर्व वैज्ञानिक-भावपूर्ण भूमिका दीगई है जिसके द्वारा श्रीगुरुदेव सम्बन्धीय नाना दार्शनिक भावोंकी पूर्णसिद्धि कीगई है। इसप्रकारका यह नूतन ही ग्रन्थहै मूल्य। मात्र।

(४) निगमागम चंद्रिका-१लाभाग कलाब्दाः ४९९७ } जिस प्रकार का यह
(५) निगमागम चंद्रिका-३राभाग कलाब्दाः ४९९९ } निगमागम चन्द्रिका

द्वितीयभाग है उसी रीतिपर धर्मसम्बन्धी अनेकानेक अनिर्वचनीय लेखों युक्त निगमागम चंद्रिका प्रथमभाग व तृतीयभाग भी मुद्रित हुए हैं। मूल्य प्रत्येक भाग का १) ही रुपया है। और कलिगताब्दाः ५००० वें वर्ष से चंद्रिका प्रत्येक ऋतु में समय पर प्रकाशित होकर धर्म जिज्ञासुकुमुदगणों को कृतार्थ करने लगी है। इस प्रकार का यह पत्र भारत वर्षमें एक ही है मूल्य डाक

व्यय सहित केवल १) मुद्रा है। निगमागम चंद्रिका जैसा अद्वितीय धर्म प्रतिपादक पत्र हिन्दूमात्र को खरीदना चाहिये।

७ योग-साधन-चतुष्टय। (प्रथम भाग)

योगके क्रिया सिद्धांशको पूज्यपाद महर्षिगणोंने चार भाग में विभक्त किया है। यथा—हठयोग, लय योग, मंत्रयोग और राजयोग। प्राचीन देश, काल पात्र के अनुसार पूर्व्व विरचित ग्रन्थ समूहों में इन चारों मार्गों का वर्णन सम्मिलित आया करता है; इससे वर्तमान देश काल पात्र के कारण उन मार्गों के समझने में कठिनता पड़ती है। इस कारण उपदेशदाता एवं उपदेश—ग्रहीता दोनों के कल्याणार्थ ही यह ग्रन्थ प्रकाशित कियागया है। इस प्रथम भाग में हठयोग एवं लययोग का विस्तृत वर्णन स्वतंत्र स्वतंत्र रूप से अत्यंत ही सुगमता पूर्वक कियागया है; (द्वितीय भाग में मंत्रयोग एवं राजयोग का वर्णन किया जायगा) और ग्रन्थके आरम्भ में साधन एवं अष्टाङ्ग योग के नाम से दो अतिउत्तम एवं भावपूर्ण प्रबन्ध भी दियेगये हैं। जिस अपूर्व्व और लोक-उपकारी रीति पर यह ग्रन्थ प्रणयन कियागयाहै, सो केवल पाठ करने से ही विदित होसकताहै मानो योगके क्रियासिद्धांशको हस्तामलक कर दिखाया है। योगमार्ग के अभिलाषी साधक मुमुक्षुगण अवश्य इस ग्रन्थ को पाठ करें। —मूल्य १॥) रुपया.

८ गीतावली। (प्रथमभाग)

इस पुस्तक में सङ्गीतकी उत्पत्ति, सङ्गीत का दार्शनिकतत्त्व, साधनसे सङ्गीतका सम्बन्ध, राग रागिनियों का भेद एवं सङ्गीत अनुरागी जनगणों के विदितार्थ सम्पूर्ण विषयों का वर्णन ऐसे अद्भुत रूपसे कियागया है—कि जिसकी प्रशंसा नहीं होसक्ती. इसके उपरान्त नानाराग रागिनियोंके संयोगसे विरचित प्रायः तीनसौ नूतन गीत हैं। इस प्रकारके वैज्ञानिक भाव-पूर्ण भजन इससे पहले हिंदी भाषा में प्रकाशित नहीं हुएथे। इसके अतिरिक्त संस्कृत के गीतगोविंद आदि काव्य-रत्नों से भी यह ग्रन्थ समलंकृत होंगे। निस्संदेह ही भाषामें ऐसा अनिर्वचनीय ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआथा। सङ्गीत-अनुरागी और भगवत्-भक्तगणों के अर्थ यह ग्रन्थ बहुतही आनन्ददायक है इस में अत्युक्ति नहीं है। मूल्य केवल १)

९ योगदर्शन। (निगमागमी भाष्य सहित)

महर्षि पतञ्जलि कृत योग--सूत्रों पर यह अपूर्व और अमूल्य हिन्दीभाष्य रचित हुआ है, सुप्रसिद्ध षड्दर्शनोंमें योगदर्शन की जो महिमा है, योगदर्शन की जो सार्वभौम गति है एवं योगदर्शन का जो सर्व जीवहितकारी विज्ञान है, सो विद्वानगण मात्र कोही विदितहै इस श्रेष्ठ दर्शन के विषय अधिक कहना व्यर्थ है। इस ग्रन्थ पर यदिच संकृत-भाषा के आर्ष-भाष्य मिलते हैं, परन्तु भूतकाल के पात्रों और वर्तमानकाल के पात्रों में इतना अन्तर हो गया है कि वे प्राचीन श्रेष्ठभाष्य-समूह भी सूत्रवत् ही प्रतीत होने लगे हैं। और आज दिन तक इस दर्शन-शास्त्र पर जो कुछ हिन्दी टीकायें प्रकाशित हुई हैं, वे सबभी उन्हीं संस्कृत भाष्यों के अनुवाद मात्र हैं; इस कारण उन टीका-समुहों

द्वारा आजकल के मुमुक्षुगणों के पूर्ण कल्याण होने की आशा नहीं; अतएव धर्म्म-जगत् का यह बृहत् अभाव दूर करने के अर्थ साधु-कृपा से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ की भाषा अति सरल, गंभीर-भाव-पूर्ण, हृदयग्राही एवं सूत्रों का पूर्ण भावप्रकाशक है इस में सन्देह नहीं। यह भाष्य केवल योगदर्शन के उपदेशक गणों के लिये ही सहायक नहीं है किन्तु इसके द्वारा साधारण बुद्धिमान् जिज्ञासुगण भी अपना कल्याण प्राप्तकरसकेंगे; इसमें कुछभी संदेह नहीं। इस ग्रंथके लिये अधिक क्या लिखाजाय; बिना ईश्वर प्रेरणाके ऐसे ग्रन्थोंका प्रकाश होना असम्भवहै। जिस योगशास्त्र की प्रशंसा स्वयं भगवान् कृष्णचन्द्रजी ने गीता में बड़ी उत्कृष्टता से वर्णन की है। जो योगमार्ग यावत् वेद शास्त्रादि द्वारा प्रशंसित है उसी योग शास्त्र के प्रधान ग्रन्थ "पातञ्जल" को ऐसे अनुपम प्रकार से भाष्य रूप में वर्णन किया है जिसको अवलोकन कर बड़े २ धुरंधर विद्वान् चकित हो प्रशंसा गान पूर्वक कह रहे हैं कि ऐसा अपूर्व भाष्य महिमंडलमें आजपर्यंत नहीं रचित हुआथा निस्संदेह इस ग्रन्थको मोक्ष की मंजूषा और सिद्धियों का सुधानिधि कहेंतो अनुचित नहीं है। यदि मानव जन्म चरितार्थ करना चाहोतो हजारयत्न करके भी योगशास्त्रका अमृतपानकर अमर होनेकी चेष्टाकरो. मूल्य २) रु०सजिल्द २॥).

इन धर्म-ग्रंथों के अतिरिक्त सांख्य वैशेषिक न्यायदर्शन, मीमांसा दर्शन और वेदान्तदर्शन, एवं गीता आदि उपनिषद् समूह आदि भी निगमागमीभाष्य-सहित शीघ्रप्रकाशितहोंगे। यहग्रंथप्रचार-कार्य निरंतर जाहिरीरहैगा।

निगमागम मंडली का प्रधान पुस्तकालय।

श्रीमथुराजी में स्वामीघाटपर खोलागया है। ये समग्र पुस्तक-समूह उक्त पुस्तकालय से मिल सक्ते हैं। विदेशीय ग्राहकगणोंको अग्रिम मूल्य आने वा वेल्यू-पेबिल से प्राप्त होसकेंगे। इस पुस्तकालय में धर्मसम्बन्धी और भी अनेक प्रकारके ग्रंथ संगृहीत रहेंगे। जिज्ञासुगण जिस प्रकरण के ग्रंथ चाहेंगे भेजे जासकेंगे।

अमूल्य वितरण।

निर्धन और सच्चे धर्मजिज्ञासुओंको ये ग्रंथ श्रीमत् आचार्यद्वारा उनके पर्यटन समय बिनामूल्यही प्रदानहोते हैं।

सर्व प्रकार के पत्र आदि निम्न लिखित पतेपर भेजने चाहिये। पत्र बैरिंग न लिये जांयगे।

आवश्यक-सूचना।

विदित हो कि "निगमागममंडली" की प्रकाशित पुस्तकों का प्रचार जितना ही देश में होगा भारतसन्तानोंके उतने ही अधिक कल्याण की संभावना है। इसी हेतु इस अभिप्राय की पूर्ति के लिये भारत के सभी प्रान्तों के छोटे बड़े नगरों में हमको एजेन्टोंकी अवश्यकता है। धर्मबुद्धिवाले उत्साही पुरुष एवं विशेषकर पुस्तक-विक्रेतागण इस "डिपो" के एजेन्ट होसक्ते हैं जिनको उचित कमीशन भी दिया जायगा। नियम निम्नलिखित पते पर पत्र व्यवहार करनेसे स्थिर होसक्तेहैं।

श्रीठाकुरप्रसादशर्मा "निगमागममंडली" बुकडिपो-मथुरा.

हर्षसम्वाद ।

निगमागम चन्द्रिका चौथे भाग अर्थात् कलिगताब्दाः सम्वत् ५०१० वें वर्ष से प्रत्येक ऋतुवार चन्द्रिका का प्रकाश होने लगा है। प्रत्येक अंक ४ फार्म से अधिक ही होता है वर्षभर में ऐसे छैः पुस्तक साधारण ग्राहकोंको केवल १) मुद्रा पेशगी भेज देने पर घर बैठे मिलेंगे। परन्तु "मण्डली" के सभ्यों तथा गवर्नमेन्ट राजा महाराजाओं से ४) वार्षिक न्यौछावर लीजाती है, वही ४)रु० वार्षिक की अमूल्य वस्तु चन्द्रिका साधारण ग्राहकों को केवल १) वार्षिक में ही दान करना मंडली की कृपा ही समझनी चाहिये। हिन्दूमात्र को चन्द्रिका से अपना गृह जगमगित करना चाहिये।

आवश्यक-सूचना.

विदित हो कि "निगमागममंडली" की प्रकाशित पुस्तकों का प्रचार जितना ही देश में होगा भारतसन्तानोंके उतने ही अधिक कल्याण की संभावना है। इसी हेतु इस अभिप्राय की पूर्ति के लिये भारत के सभी प्रान्तों के छोटे बड़े नगरों में हमको एजन्टों की आवश्यकता है। धर्मबुद्धिवाले उत्साही पुरुष एवं विशेषकर पुस्तक-विक्रेतागण मण्डली की "डिपो" के एजन्ट होसक्ते हैं जिनको उचित कमीशन भी दिया जायगा। नियम निम्नलिखित पतेपर पत्र व्यवहार करनेसे स्थिर होसक्तेहैं।

मण्डली का डिपो (प्रधान पुस्तकालय) श्रीमथुराजी में स्वामी घाटपर खोलागया है सो मंडली के प्रकाशित समग्र धर्मग्रन्थ वहीं से मिलेंगे। विदेशीय ग्राहकों को अग्रिम मूल्य आने तथा वेल्यूपेबिल से प्राप्त होसकेंगे इस पुस्तकालय से धर्मसंबंधी सभी प्रकारके ग्रंथ मँगानेवालों को भेजे जासकेंगे।

सब प्रकार के पत्र आदि नीचे लिखे पतेपर भेजने चाहिये। पत्र बैरंग न लिये जांयगे। किसी प्रकारका जवाब मँगाना हो तो जवाबी कार्ड भेजना चाहिये।

श्रीठाकुरप्रसाद शर्मा,
"निगमागम मंडली"-बुकडिपो मथुरा.